

जैनमित्रका तेरहवें वर्षका उपहार ।



नमः श्रीवीतरागाय ।

विद्वद्रत्नमाला.

प्रथम भाग ।

अर्थात्

संस्कृतके सात ग्रन्थकर्त्ताओंका परिचय ।

लेखक—देवरी निवासी नाथूराम प्रेमी ।

प्रकाशक—जैनमित्र कार्यालय, बम्बई ।

मुद्रक—

विं. स. देवळे बम्बईवैभव प्रेस, बम्बई ।

अक्टूबर १९१२

प्रथमावृत्ति] ग्रन्थ नं० ४. [मूल्य दस आना.

छ ग्रहण करने योग्य होगा तो उसे ग्रहण करके मुझे उत्साहित करेगा ।

जैनियोंको जैसे इतिहासकी आवश्यकता है उसकी पूर्ति अभी ही होगी—धीरे २ समय पाकर होगी । अभी तो हमारे यहां इस विषयकी चर्चा ही शुरू हुई है । दश बीस वर्षमें जब हमारी इस विषयकी ओर पूर्ण अभिरुचि होगी, विद्वानोंके द्वारा इस विषयके कड़ों फुटकर लेख प्रकाशित हो लेंगे, अप्रकाशित और अप्राप्य ग्रन्थ छपकर प्रकाशित हो जावेंगे, उनका पठन पाठन होने लगेगा; तब कही किसी अच्छे विद्वानके द्वारा इसका संग्रह हो सकेगा । परन्तु इस विषयकी ओर समाजको अभीसे ध्यान देना चाहिए । यह बड़ी भारी प्रसन्नताकी बात है कि स्वर्गीय बाबू देवकुमारजीके जैन-सिद्धान्त—भवनकी ओरसे केवल ऐतिहासिक विषयोंकी चर्चा करने-वाला एक स्वतंत्र पत्र प्रकाशित होने लगा है । इसकी बड़ी भारी आवश्यकता थी । आशा है कि इस पत्रसे जैनइतिहासके उद्धार-कार्यमें बहुत सहायता पहुंचेगी ।

लगभग चार वर्ष पहले मैंने जैनहितैषीमें विद्वद्रत्नमाला नामकी लेखमाला लिखनेका प्रारंभ किया था । उसमें अब तक जितने लेख प्रकाशित हुए थे, प्रायः उन सबका इस पुस्तकमें संग्रह कर दिया गया है । यह लेखमाला अभी चल रही है और यदि कोई विघ्न उपस्थित नहीं हुआ तो आगे भी चलती रहेगी । इस लिये अब तकका यह संग्रह प्रथम भागके यनामसे प्रकाशित किया जाता है । हो सका तो आगामी वर्ष इसका दूसरा भाग भी प्रकाशित करनेका प्रयत्न किया जायगा । दूसरे भागमें महाकवि वादीभासिंह, पूज्यपाद, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, स्वामी, शुभचन्द्र, अकलंकमह, कुन्दकुन्दाचार्य, ...निकाः

सूची ।

				पृष्ठसंख्या
जिनसेन और गुणभद्राचार्य	१
पण्डितप्रवर आशाधर	९०
श्रीअमितगतिसूरि	११६
श्रीवादिराजसूरि	१४१
महाकवि मल्लिषेण	१६४
श्रीसमन्तभद्राचार्य	१६९



नमः सिद्धेभ्यः ।

विद्वद्रत्नमाला ।

जिनसेन और गुणभद्राचार्य ।

इस अपने पाठकोंको इस लेखमें ऐसे दो महात्माओंका परिचय है, जिनका सिंहासन जैनियोंके संस्कृत साहित्यमें बहुत ही समझा जाता है और जिन्होंने अपनी अपूर्व कृतिको संसारमें कर अपना नाम युगयुगके लिये अमर कर दिया है । इन रत्नज्ञानान् महात्माओंका नाम भगवज्जिनसेनाचार्य और भगवद्गुण-चार्य है ।

वंशपरिचय ।

इन महामुनियोंने किस जाति वा कुलमें जन्म लिया था, इसके निका कोई साधन नहीं है । इन्होंने स्वयं अपने ग्रन्थोंमें इसका उल्लेख नहीं किया है । मुनियोंको क्या आवश्यकता है कि, अपनी गृहस्थावस्थाका स्मरण करें ? और उस समयके तथा पी-अन्यकर्त्ताओंको जिन्होंने कि, उनका कुछ उल्लेख किया है, नसेन वा गुणभद्रके पारमार्थिक वंशका वर्णन करनेकी अपेक्षा कि सासारिक वंशका परिचय देना कुछ विशेष महत्त्व -



ोट जिलेके [South Arcot District] अन्तर्गत समझा जाता इसके सिवाय यह भी सुना जाता है कि कर्नाटकी वा द्राविड़-
 ामें भी इन महात्माओंने कई ग्रन्थोंकी रचना की है । इससे भी
 ा जाता है कि, ये कर्नाटक वा द्राविड़देशवासी होंगे ।

हिन्दीपद्यमें एक ज्ञानप्रबोध नामका ग्रन्थ है, उसमें खंडेलवाल
 तिकी उत्पात्तिके प्रकरणमें लिखा है कि, जिनसेनस्वामी पहले खंडे-
 नगरके राजा थे । परन्तु इस बातपर विश्वास नहीं किया जा सकता
 । क्योंकि एक तो ज्ञानप्रबोधके कर्त्ताके कथनके सिवाय इस विषयमें
 र किसी प्राचीन ग्रन्थका प्रमाण नहीं है, दूसरे उन्होंने जो कुछ लिखा
 उसीपर थोड़ासा विचार करनेसे साफ मालूम हो जाता है कि
 ह केवल कपोलकल्पना है । देखिये, ज्ञानप्रबोधके थोड़ेसे पद्य हम
 हांपर उद्धृत करते हैं:—

राजा छौ मौटौ भलौ, नाम सही जिनसेन ।
 खंडेलापुरको धणी, गुणपूरणको केन [?] ॥ ९ ॥
 अपराजित मुनिके निकट, दीक्षा ले धरि भाव ।
 आचारज जिनसेन तो, भये पुण्यपरभाव ॥ १० ॥
 चेला होया पांचसै, गुणभदर सिरदार ।
 बुद्धि क्रियाका जोरत, आचारजपदधार ॥ ११ ॥
 थापी किरिया देशमें, पंचमकाल प्रमान ।
 सिद्ध भई चक्रेश्वरी, होत भयो है मान ॥ १२ ॥
 खंडेलामें जो बसैं, आसपासके गाम ।
 सब ही श्रावक हो गये, गामतणूं धरि नाम ॥ १३ ॥

आना बतलाया है । इस ग्रन्थमें जिनसेनके गुरुका नाम यशो-
वतलाया है, जो कि एक अंगके धारक थे । इससे भी ज्ञान-
घका कथन असत्य ठहरता है ।

जिनसेन और गुणभद्रस्वामीके गृहस्यावस्थाके वंशका भले ही कुछ
नहीं लगे, परन्तु उनके मुनिवंशका परिचय उनके ग्रन्थोंसे तथा
रे उल्लेखोंसे भलीभाँति मिलता है । महावीर भगवान्के निर्वाणके
प्रायः जव तक श्वेताम्बरसम्प्रदायकी उत्पत्ति नहीं हुई
तब तक यह जैनधर्म संघभेदसे रहित था । केवल आर्हत,
अनेकान्त आदि नामोंसे इसकी प्रसिद्धि थी । परन्तु
विक्रमकी मृत्युके १३६ वर्ष पीछे श्वेताम्बरसम्प्रदाय पृथक्
भा, तब दिगम्बरसम्प्रदाय मूलसंघके नामसे प्रसिद्ध हुआ ।
ये मूलसंघमें भी अर्हद्वलि आचार्यके समयमें जोकि वीरभग-
नके निर्वाणसे लगभग ७०० वर्ष पीछे हुए हैं, चार भेद हुए ।

१. नन्दिसंघकी पट्टावलीमें यशोभद्रको वीरनिर्वाणके ४७४ वर्ष पीछे अर्थात्
संवत्के प्रारंभमें बतलाया है । पट्टावलीमें जिनसेनका नाम नहीं है ।
यदि खंडेलवालोंकी उत्पत्तिका वृत्तान्त ज्ञानप्रबोध सरीखा कपोलकल्पित
है, तो ऐसा माना जा सकता है कि, ये यशोभद्रके ऐसे अनेक शिष्योंमेंसे
हैं कि अंगधारी नहीं थे, एक होंगे और महापुराणके कर्त्तासे सिवाय नामसाम्यके
का और कोई सम्बन्ध नहीं होगा । खंडेलवालोंकी उत्पत्तिके विषयमें जवतक
सी प्राचीन प्रामाणिक ग्रंथमें कुछ उल्लेख नहीं मिले, तबतक उसे असत्य
समझना चाहिये ।

२— एकसए छत्तीसे विक्रमरायस्स मरणपत्तस्स ।
सोरहे बलहीए उप्पण्णो सेवडो संघो ।

ऊपर जिन चार संघोंका नाम बतलाया गया है, उनमेंसे सेन-
 नामक वंशमें हमारे दोनों चरित्रनायकोंने दीक्षा ली थी। सेन
 की किसी विश्वासपात्र पट्टावलीके प्राप्त नहीं होनेसे हम सेनसं-
 प्रारंभसे उक्त चरित्रनायकोंतककी गुरुपरम्परा नहीं बतला
 सके हैं। परन्तु विक्रान्तकौरवीयनाटकमें हस्तिमल्लकविने जो
 मनी प्रशस्ति लिखी है, उससे मालूम होता है कि, गन्धहस्तिमहा-
 प्यके कर्ता स्वामीसमन्तभद्रके वंशमें ही भगवान् जिनसेन तथा
 गुणभद्र हुए हैं। उसमें लिखा है कि, समन्तभद्रस्वामीके शिवकोटि
 के शिवायन नामके दो शिष्य हुए और उन्हींकी परिपाटीमें श्री-
 रसेन जिनसेन तथा गुणभद्र अवतीर्ण हुए। उस प्रशस्तिका कुछ
 भाग यह है:—

तत्त्वार्थसूत्रव्याख्यानगन्धहस्तिप्रवर्तकः ।

स्वामी समन्तभद्रोभूद्देवागमनिदर्शकः ॥

अवदुत्तटमटिति झटिति स्फुटपटुवाचाटधूर्जटेजिह्वा ।

वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति का कथान्येषाम् ॥

शिष्यौ तदीयौ शिवकोटिनामा शिवायनः शास्त्रविदां वरिष्ठौ ।

कृत्स्नश्रुतश्रीगुणपादमूले ह्यधीतिमन्तौ भवतः कृताथौ ॥

तदन्ववाये विदुषां वरिष्ठः स्याद्वादनिष्ठः सकलागमज्ञः ।

श्रीवीरसेनोऽजनि तार्किकश्रीः प्रध्वस्तरागादिसमस्तदोषः ॥

१. बहुत लोगोंका ख्याल है बल्कि कई एक कथाग्रन्थोंमें भी लिखा है कि,
 शिवकोटिका ही दूसरा नाम शिवायन था। परन्तु कविवर हस्तिमल्लके कथनसे
 शिवकोटि और शिवायन दो जुदे २ आचार्य सिद्ध होते हैं।

तत्र वित्रासिताशेषप्रवादिमद्वारणः ॥

वीरसेनाग्रणीवीरसेनभट्टारको वभौ ॥ इत्यादि ।

[उत्तरपुराण]

हरिवंशपुराणकारने अपनी जो श्लोकबद्ध गुरुपरम्परा दी है, वेस्तारके भयसे हम उसे समग्र प्रकाशित न करके केवल आचार्योंके नाम मात्र देते हैं:—

अंगज्ञानधारियोंके पश्चात्—नयंधरऋषि, श्रुतऋषि, श्रुतिगुप्त, शिवगुप्त, अर्हद्वलि, मन्दरार्य, मित्रवीर, बलदेव, बलमित्र, सिंहबल, गीरावित्, पद्मसेन, व्याघ्रहस्ति, नागहस्ति, जितदंड, नन्दिषेण, दीपसेन, धरसेन, सुधर्मसेन, सिंहसेन, सुनन्दिषेण, ईश्वरसेन, सुनन्देपेण, अभयसेन, सिद्धसेन, अभयसेन, भीमसेन, जिनसेन, शान्तिषेण, जयसेन, अमितसेन, क्रीर्तिषेण और हरिवंशपुराणके कर्त्ता व्रजेनसेन ।

महापुराणमें भगवान् जिनसेनने यद्यपि अपनी क्रमबद्ध गुरुपरम्परा नहीं दी है, परन्तु मंगलाचरणमें जिन २ आचार्योंको नमस्कार किया है, उनमेंसे समन्तभद्र, सिद्धसेन, यशोभद्र, शिवकोटि, वीरसेन और जयसेन ये छह आचार्य सेनसंघके मालूम होते हैं । क्योंकि भद्र और सेन ये दो शब्द सेनसंघके आचार्योंके नामके साथ ही प्रायः रहते हैं । इनमेंसे समन्तभद्र और शिवकोटिका उल्लेख तो ऊपर हो चुका है, और वीरसेन तथा जयसेन जिनसेनके गुरुओंमें है, जैसा कि आगे प्रगट किया जायगा । शेष रहे सिद्धसेन और यशोभद्र, तो इन्हें समन्तभद्रके पीछेकी गुरुपरिपाटीमें गिनना चाहिये ।



तत्र वित्रासिताशेषप्रवादिमद्वारणः ॥

वीरसेनाग्रणीवीरसेनभट्टारको वभौ ॥ इत्यादि ।

[उत्तरपुराण]

हरिवंशपुराणकारने अपनी जो श्लोकवद्ध गुरुपरम्परा दी है, वेस्तारके भयसे हम उसे समग्र प्रकाशित न करके केवल आचार्योंके नाम मात्र देते हैं:—

अंगज्ञानधारियोंके पश्चात्—नयंधरऋषि, श्रुतऋषि, श्रुतिगुप्त, शिवगुप्त, अर्हद्वलि, मन्दरार्य, मित्रवीर, बलदेव, बलमित्र, सिंहबल, गीरवित्, पद्मसेन, व्याघ्रहस्ति, नागहस्ति, जितदंड, नन्दिषेण, शीपसेन, धरसेन, सुधर्मसेन, सिंहसेन, सुनन्दिषेण, ईश्वरसेन, सुनन्देपेण, अभयसेन, सिद्धसेन, अभयसेन, भीमसेन, जिनसेन, शान्तेपेण, जयसेन, अमितसेन, क्रीर्तिषेण और हरिवंशपुराणके कर्त्ता जिनसेन ।

महापुराणमें भगवान् जिनसेनने यद्यपि अपनी क्रमवद्ध गुरुपरम्परा नहीं दी है, परन्तु मंगलाचरणमें जिन २ आचार्योंको नमस्कार किया है, उनमेंसे समन्तभद्र, सिद्धसेन, यशोभद्र, शिवकोटि, वीरसेन और जयसेन ये छह आचार्य सेनसंघके मालूम होते हैं । क्योंकि भद्र और सेन ये दो शब्द सेनसंघके आचार्योंके नामके साथ ही प्रायः रहते हैं । इनमेंसे समन्तभद्र और शिवकोटिका उल्लेख तो ऊपर हो चुका है, और वीरसेन तथा जयसेन जिनसेनके गुरुओंमें है, जैसा कि आगे प्रगट किया जायगा । शेष रहे सिद्धसेन और यशोभद्र, सो इन्हें समन्तभद्रके पीछेकी गुरुपरिपाटीमें गिनना चाहिये ।

चरित्रनायकोंकी गुरुपरम्पराका क्रमवद्ध पता चित्रकूट
 की एलाचार्यसे प्रारंभ होता है। एलाचार्यके पास वीरसेन
 पूर्ण सिद्धान्तशास्त्रोंका अध्ययन करके उपरितम आदि
 को लिखा था। ये एलाचार्य कौन थे, और उनकी गुरु
 थी, इसका पता अभीतक कुछ भी नहीं मिला है। श्रु
 वल इतना ही उल्लेख मिलता है:—

गले गते कियत्यपि ततः पुनश्चित्रकूटपुरवासी ।
 श्रीमानेलाचार्यो बभूव सिद्धान्ततत्त्वज्ञः ॥ १७६ ॥
 स्य समीपे सकलं सिद्धान्तमधीत्य वीरसेनगुरुः ।
 उपरितमनिबन्धनाद्यधिकारानष्टं लिलेख ॥ १७७ ॥
 न स्वामीके विनयसेन, जिनसेन, और दशरथगुरुनाम
 योंका पता लगता है। इनमेंसे विनयसेनका उल्लेख जिनसे
 अपने पार्श्वाम्युदयकाव्यकी प्रशस्तिमें किया है:—

श्रीवीरसेनमुनिपादपयोजभृङ्गः
 श्रीमानभूद्विनयसेनमुनिर्गरीयान् ।
 तच्चोदितेन जिनसेनमुनीश्वरेण
 काव्यं व्यधायि परिवेष्टितमेघदूतम् ॥ ७१ ॥

चित्रकूटपुर कहां है, यह ठीक २ नहीं कहा जा सकता है।
 धवलटीकाकी प्रशस्तिमें एक श्रीपाल नामके आचार्यका उल्लेख
 टीकाको सम्पादन की है। क्या आश्चर्य है कि, वे भी वीरसेन
 शेष्य हों:—

ता श्रीजयचिह्नितोरुधवला सत्रार्थसंबोधिनी

काष्ठासंघके आद्यप्रवर्तक कुमारसेनाचार्य इन्हीं विनयसेनके शिष्य जिन्होंने सन्याससे भ्रष्ट होकर फिर दीक्षा, नहीं ली थी। यथा—
 आसी' कुमारसेणो नन्दियडे विणयसेणादिकखयओ ।
 सण्णासभंजणेण य अगहियपुणादिकखओ जाओ ॥
 सो^१ समणसंघवज्जो कुमारसेणो हु समयमिच्छत्तो ।
 चत्तोवसमो रुद्धो कट्टंसंघं परुवेदि ॥ ३८ ॥

जिनसेनस्वामीके विषयमें उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें लिखा है:—

अभवदिह हिमाद्रेर्देवसिन्धुप्रवाहो

ध्वनिरिव सकलज्ञात्सर्वशास्त्रैकमूर्तिः ।

उदयगिरतटाद्वा भास्करो भासमानः

मुनिरद्भु जिनसेनो वीरसेनादमुष्मात् ॥

अर्थात् जिस तरहसे हिमालयसे गंगानदीका प्रवाह निकलता है, यथा सर्वज्ञदेवके शरीरसे उनकी दिव्यध्वनि होती है, किंवा उदयात्ल पर्वतसे प्रकाशमान सूर्य उदय होता है, उसी प्रकारसे वीरसेन-गवानके पीछे सर्व शास्त्रोंकी मूर्तिके समान श्रीजिनसेनाचार्य हुए ।

इसके सिवाय आदिपुराणकी प्रस्तावनामें स्वयं जिनसेन स्वामीने वीरसेनस्वामीको गुरु कहकर उनका बहुत ही गौरवके साथ स्मरण किया है । देखिये:—

१. संस्कृतछाया—आसीत्कुमारसेनो नन्दितटे से
 सन्यासभंजनेन यः अगृहीतपुनर्दीक्षो जातः ॥

२. स श्रमणसंघवर्ज्यः कुमारसेनः खलु समयमिध्यात्वी
 त्यक्तोपशमो रुद्रः काष्ठासंघं प्ररूपयति ॥ ३८

उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें गुणभद्राचार्य जिनसेनस्वामीकी प्रशंसा चुकनेके पश्चात् कहते हैं:—

दशरथगुरुरासीत्तस्य धीमान्सधर्मा

शशिन इव दिनेशो विभ्वलोकैकचक्षुः ।

निखिलमिदमदीपव्यापि तद्वाङ्मयूरैः

प्रकटितनिजभावं निर्मलैर्धर्मसारैः ॥ ११ ॥

सद्भावः सर्वशास्त्राणां तद्भास्वद्वाक्यविस्तरे ।

दर्पणार्पितविम्बाभो बालैरप्याशु बुध्यते ॥१२॥

प्रत्यक्षीकृतलक्ष्यलक्षणविधिविद्योपविद्यान्तगः

सिद्धान्ताव्यवसानयानजनितप्रागल्भ्यवृद्धेद्धधी ।

नानानूननयप्रमाणानिपुणोऽगण्यैर्गुणैर्भूषितः

शिष्यः श्रीगुणभद्रमूरिरनयोरासीज्जगद्विश्रुतः ॥

भावार्थ—जिस तरह चन्द्रमाका सधर्मा सूर्य होता है, उसी प्रकार उन जिनसेनस्वामीके सधर्मा (एक गुरुके शिष्य) दशरथगुरु नामके आचार्य हुए, जो कि संसारको दिखलानेवाले अद्वितीय नेत्रों और जिनकी निर्मल धर्मको कहनेवाली वचनरूपी किरणोंसे यह मन्धकारव्याप्त संसार अपने यथार्थ भावको प्रकट करता है अर्थात् जिनकी वाणीसे संसारका स्वरूप जान पड़ता है । उनके प्रकाशमान वाक्योंमें सारे शास्त्रोंका भाव दर्पणमें पड़े हुए प्रतिबिम्बके समान पूर्ण पुरुषोंको भी शीघ्र ही भास जाता है । इन दोनोंका अर्थात् जिनसेन और दशरथगुरुका जगत्प्रसिद्ध शिष्य गुणभद्रसूरि हुआ, जिसे सारा व्याकरणशास्त्र प्रत्यक्ष हो रहा है, सिद्धान्तसागरके पार

श्रीवीरसेन इत्यात्तभट्टारकपृथुप्रथः ।

सनः पुनातु पूतात्मा कविवृन्दारको मुनिः ॥ ५५ ॥

लोकवित्त्वं कवित्त्वं च स्थितं भट्टारके द्वयम् ।

वाङ्मिता वाग्मिता यस्य वाचा वाचस्पतेरपि ॥ ५६ ॥

सिद्धान्तोपनिबन्धानां विधातुर्मद्गुरोश्चिरम् ।

मन्मनःसरसि स्थेयान्मृदुपादकुशेशयम् ॥ ५७ ॥

धवलां भारतीं तस्य कीर्तिं च विधुनिर्मलाम् ।

धवलीकृतनिःशेषभुवनां तन्नमीम्यहम् ॥ ५८ ॥

इन श्लोकोंका अभिप्राय यह है कि, भट्टारककी वड़ी ॥री प्राप्ति पदवी प्राप्त करनेवाले, पवित्रात्मा और कविशिरोमणि श्रीवीरसेनाच हमें पवित्र करें । लौकिक ज्ञान और कविता ये दोनों गुण भट्टारकमें हैं । उनकी वाणी वृहस्पतिके पांडित्यको भी पराजित रती है । सिद्धान्तोंकी धवल जयधवल टीकाएं करनेवाले मेरे गुरुमहाराजके कोमल चरणकमल मेरे मनरूपी सरोवरमें चिरक तक ठहरें । उनकी धवला अर्थात् उज्ज्वल अथवा धवलाटीका वाणीको तथा चंद्रमाके समान निर्मल कीर्तिको जो कि सारे संसारे धवल कर रही है, मैं पुनःपुनः नमस्कार करता हूँ ।

१. भट्टारकका लक्षण नीतिसारमें इस प्रकार लिखा है:—

सर्वशास्त्रकलाभिज्ञो नानागच्छाभिवर्द्धकः ।

महामनाः प्रभाभावी भट्टारक इतीष्यते ॥

अर्थात् जो सारे शास्त्रोंका और सारी कलाओंका जाननेवाला हो, गच्छोंका बढ़ानेवाला हो, विचारशील और प्रभावशील हो, उसे भट्टारक कहते हैं ।

उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें गुणभद्राचार्य जिनसेनस्वामीकी प्रशंसा
चुकनेके पश्चात् कहते हैं:—

दशरथगुरुरासीत्तस्य धीमान्सधर्मा

शशिन इव दिनेशो विश्वलोकैकचक्षुः ।

निखिलमिदमदीपव्यापि तद्वाङ्मयूरवैः

प्रकटितनिजभावं निर्मलैर्धर्मसारैः ॥ ११ ॥

सद्भावः सर्वशास्त्राणां तद्भास्वद्वाक्यविस्तरे ।

दर्पणार्पितविम्बाभो बालैरप्याशु बुध्यते ॥१२॥

प्रत्यक्षीकृतलक्ष्यलक्षणविधिर्विद्योपविद्यान्तगः

सिद्धान्ताब्ध्यवसानयानजनितप्रागल्भ्यवृद्धेद्धी ।

नानानूननयप्रमाणनिपुणोऽगण्यैर्गुणैर्भूपितः

शिष्यः श्रीगुणभद्रसूरिरनयोरासीजगद्विश्रुतः ॥

भावार्थ—जिस तरह चन्द्रमाका सधर्मा सूर्य होता है, उसी प्रकार
उन जिनसेनस्वामीके सधर्मा (एक गुरुके शिष्य) दशरथगुरु
मके आचार्य हुए, जो कि संसारको दिखलानेवाले अद्वितीय नेत्र
और जिनकी निर्मल धर्मको कहनेवाली वचनरूपी किरणोंसे यह
बन्धकारव्याप्त संसार अपने यथार्थ भावको प्रकट करता है अर्थात्
जेनकी वाणीसे संसारका स्वरूप जान पड़ता है । उनके प्रकाशमान
वाक्योंमें सारे शास्त्रोंका भाव दर्पणमें पड़े हुए प्रतिविम्बके समान
पूर्व पुरुषोंको भी शीघ्र ही भास जाता है । इन दोनोंका अर्थान् जि-
सेन और दशरथगुरुका जगत्प्रसिद्ध शिष्य गुणभद्रसूरि हुआ,
जिसे सारा व्याकरणशास्त्र प्रत्यक्ष हो रहा है, सिद्धान्तसागरके पार

जानेसे जिसकी प्रतिभा तथा बुद्धि प्रकाशित हो रही है, जिसे
और उपविद्याओंके जो पार पहुँच गया है, सारे नये और प्रमा
(न्यायशास्त्र के) जाननेमें जो चतुर है और इस प्रकारके जो
णित गुणोंसे भूषित है ।

इससे दो बातें मालूम होती हैं, एक तो यह कि, दशरथ
जिनसेन स्वामीके सतीर्थ थे और दूसरे यह कि गुणभद्रस्वामीके
वे गुरु थे । बहुत करके गुणभद्रस्वामीके विद्यागुरु दशरथगुरु
और दीक्षागुरु जिनसेनस्वामी होंगे ।

इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतारमें जो कि कोल्हापुरमें छपा है, लि
है कि—

विंशति सहस्रसद्ग्रन्थरचनया संयुतां विरच्य दिवस
यातस्ततः पुनस्तच्छिष्यो जयसेनगुरुनामा ॥ १८२
तच्छेषं चत्वारिंशता सहस्रैः समापितवान् । इत्यादि

अर्थात् वीरसेनस्वामी जयधवला टीकाके २० हजार
बनाकर स्वर्गलोकको सिधारे, तब उनके शिष्य
उसका शेष भाग ४० हजार श्लोकोंमें बनाकर पूर्ण किया
इससे मालूम होता है कि वीरसेनस्वामीके एक जयसे
नामके भी शिष्य थे । परन्तु यथार्थमें यह एक भ्रम है
लेखकके प्रमादसे मूल पुस्तकमें या छपाते समय संशोधक
दृष्टिदोषसे ' जिनसेनगुरु ' की जगह ' जयसेनगुरु ' लिख अर्थ
छप गया है । क्योंकि जैसा कि हम आगे लिखेंगे, जयधव
टीकाका शेषभाग जिनसेनस्वामीका ही बनाया हुआ है । अतएव वी
सेनस्वामीके जयसेन नामके शिष्य नहीं थे । हां जिनसेनस्वामी

शागुरुका नाम जयसेन अवश्य था, जिनका कि उल्लेख आदिपुरा-
नी उत्थानिकामें वीरसेन स्वामीके पीछे मिलता है:—

जन्मभूमिस्तपोलक्ष्म्याः श्रुतप्रशमयोर्निधिः ॥

जयसेनगुरुः पातुः बुधवृन्दाग्रणीः स नः ॥ ५८ ॥

अर्थात् तपरूपी लक्ष्मीके जन्मस्थान (दीक्षा देनेवाले) और शास्त्र तथा
ज्ञान्तिके कोश और विद्वानोंके अगुए जयसेनगुरु हमारी रक्षा करें।

इस तरह वीरसेनस्वामीके तीन शिष्योंका उल्लेख मिलता है।
उन कह सकता है कि, उनके ऐसे २ महा विद्वान् और कितने
शिष्य थे ?

जिनसेनस्वामीके शिष्योंमें केवल गुणभद्रस्वामीका ही उल्लेख
मिलता है और इन्हींकी सबसे अधिक प्रसिद्ध है। अथवा दूसरे
हस्त्य शिष्य जगद्विस्व्यात महाराजाधिराज अमोघवर्ष थे, जिन्होंने
राज्यका परित्याग कर दिया था। इनका विशेष परिचय हम
आगे चलकर करावेंगे।

गुणभद्रस्वामीके अनेक शिष्योंमेंसे केवल दो शिष्योंके विषयमें
हमें कुछ जानते हैं, एक तो लोकसेन जिनके उपकारके लिये आ-
मानुशासन नामक ग्रन्थकी रचना हुई है और दूसरे मण्डलपुरुष
जिन्होंने 'चूडामणि-निघण्टु' नामक द्राविड़भाषाका कोश बनाया
है। लोकसेनके विषयमें उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें इस प्रकार लिखा है:—

विदितसकलशास्त्रो लोकसेनो मुनीशः

कविरविकलवृत्तस्तस्य शिष्येषु मुख्यः ।

सततमिह पुराणे प्राप्य साहाय्यमुच्चै-

गुरुविनयमनैपीन्मान्यतां स्वस्य सद्भिः ॥ २५ ॥



यहांपर एक बात यह विचारणीय है कि वीरसेनस्वामीके पीछे सेन और जिनसेनके पीछे गुणभद्रस्वामीने ही आचार्यपदको अभित किया था, या अन्य किसीने। देवसेनसूरिने अपने दर्शनसाथमें काष्ठासंघकी उत्पत्तिमें लिखा है कि:—

‘सिरिवीरसेणसीसो जिणसेणो सयलसत्यविण्णाणी ।
 सिरिपउमणंदि पच्छा चउसंघसमुद्धरणधीरो ॥ ३१ ॥
 तस्य च सिस्सो गुणवं गुणभद्रो दिव्वणाणपरिपुण्णो ।
 पक्खोवासमंडिय महातवो भावलिंगो य ॥ ३२ ॥
 तेण पुणोवि य मिच्चं णेज्जण मुणिस्स विणयसेणस्स ।
 सिद्धंतं घोसित्ता सयं गयं सगगल्लोयस्स ॥ ३३ ॥

अर्थात्—श्रीवीरसेनाचार्यके शिष्य जिनसेन जो कि संपूर्ण शान्त्रिके ता थे, श्रीपद्मनन्दिके पश्चात् चारों संघके स्वामी (आचार्य) । फिर उनके शिष्य गुणवान् गुणभद्र हुए जो कि दिव्यज्ञानसे पूर्ण, एक एक पक्षका (१५ दिनका) उपवास करनेवाले, बड़े भारी स्त्री, और सच्चा मुनिर्लिंग धारण करनेवाले थे । उन्होंने श्रीविन-

१. संस्कृतछाया—

श्रीवीरसेनशिष्यो जिनसेनः सकलशास्त्रविज्ञानी ।
 श्रीपद्मनन्दिपश्चात् चतुःसंघसमुद्धरणधीरः ॥ ३१ ॥
 तस्य च शिष्यो गुणवान् गुणभद्रो दिव्यज्ञानपरिपूर्णः ।
 पक्षोपवात्तमण्डितः महातपः भावलिङ्गश्च ॥ ३२ ॥
 तेन पुनोपि च मृत्युं नीत्वा मुनेः विनयसेनस्य ।
 सिद्धान्तं घोसित्वा स्वयं गतं स्वर्गलोकस्य ॥ ३३ ॥

यसेनमुनिकी मृत्यु होनेपर सिद्धान्तोंका उपदेश किया और
भी स्वर्गलोकको सिधारे ।

इससे यह जान पड़ता है कि, वीरसेनस्वामीके पश्चात्
नन्दि नामके मुनि और फिर उनके पीछे जिनसेनस्वामी आ
पर सुशोभित हुए थे । इसी प्रकारसे जिनसेनस्वामीके पश्चात्
सेन और फिर गुणभद्रस्वामी पट्टाधीश हुए थे । पद्मनन्दि
कौन थे, इस विषयमें निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा
है । जिनसेन और गुणभद्रके प्राप्य ग्रन्थोंमें उनका कोई
नहीं मिलता है । परन्तु यदि पद्मनन्दि एलाचार्यका ही नाम
हो—जैसा कि प्रसिद्ध है, तो ऐसा हो सकता है कि,
गुरु जो एलाचार्य थे—जिसका कि उल्लेख श्रुतावतार कथामें है
वीरसेनके पीछे संघाधिपति हुए होंगे और उनके पीछे जिनसेन
होंगे । विनयसेन जिनसेन स्वामीके सतीर्थ थे, और विद्वान थे, इ
उनके पश्चात् वे आचार्य हुए ही होंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं
विनयसेनका उल्लेख पार्श्वभ्युदयकाव्यमें मिलता भी है । गु
पश्चात् आचार्यका पट्ट बहुत करके उनके मुख्य शिष्य लो
सुशोभित किया होगा ।

१. पद्मनन्दि यह नाम नन्दिसंघके आचार्य सरीखा जान पड़ता है ।
नन्दि, चन्द्र, कीर्ति और भूपण ये चार शब्द प्रायः नन्दिसंघके मु
नामके साथ ही रहा करते हैं । सेनसंघके आचार्योंके नाममें तो सेन,
और वीर्य शब्द लगाये जाते हैं । हां ऐसा हो सकता है कि, किसी
से नन्दिसंघी होकर भी पद्मनन्दि सेनसंघके आचार्य बना लिये गये

स्थानपरिचय ।

साधुओंके रहनेका कोई नियत स्थान नहीं होता है । एक ही स्थान-रहनेसे साधुओंका चरित्र मलिन हो जानेकी संभावना रहती है । ल्लेये दिगम्बर मुनि निरंतर एक स्थानसे दूसरे स्थानको विहार करते थे और अपने उपदेशोंसे संसारका कल्याण किया करते ऐसा मालूम होता है कि विक्रमकी नवमी शताब्दिमें जब कि भगवान् जिनसेन और गुणभद्र हुए हैं, दिगम्बरवृत्ति बनी हुई थी, तब दिगम्बरमुनि विहार किया करते थे और उनके संघका प्रधान संघाधिपति आचार्य करते थे । तौ भी मुनियोंके चरित्रपर उस समयने तथा उस समयकी परस्थितिने अपना थोड़ा बहुत प्रभाव छोड़ा था, जिससे तत्कालीन आचार्योंने देशकालके अनुसार एक स्थानमें न रहनेके तथा राजसभादिमें न जाने आदिके बन्धनोंमें बाध डिलाई कर दी थी, जान पड़ता है कि भगवान् जिनसेन और गुणभद्र स्थायीरूपमें तो नहीं, परंतु अधिकतर कर्णाटक और महा-देशके ही भीतर जहां कि राष्ट्रकूट राजाओंका राज्य था रहे । क्योंकि दूसरे प्रदेश जैनमुनियोंके लिये इतने निरापद न थे । बल्कि ये प्रायः राजधानियोंमें ही अधिक रहे और वहीं रहकर जैनशासनका उद्योत करते रहे होंगे । तत्कालीन राजा अमोघवर्ष, अकालवर्ष और नामन्त लोका-धिप इनके भक्त थे और उनका इन्हें राजधानियोंमें रहनेके लिये प्रह रहता होगा । राजधानियोंके सिवाय अन्य स्थानोंमें इनके रहने-उल्लेख भी बहुत कम मिलता है । गुणभद्रस्वामीने उत्तरपुराणकी

के बहुमूल्य प्रतिमाएं थीं । परन्तु इस समय उस केवल कुछ चिन्हमात्र ही दिखलाई देते हैं । बम्बईमें जो कीर्ति नामके भट्टारक रहते हैं और अपनेको मलखेड़की स्वामी बतलाते हैं, कहते हैं कि किलेके एक मन्दिरके शिखरमें जो कि एक उपाध्यायके अधिकारमें है, हीरा पत्रा माणिक्य नामके अंगुष्ठ प्रमाण ५१ प्रतिमाएं हैं और प्रयत्न करके नानारत्नोंकी भी मिलते हैं । वे यह भी कहते हैं कि; लोगोंको उनके दर्शन भी मिलते हैं । वे यह भी कहते हैं कि; य पहले जैनियोंके अधिकारमें था, परन्तु अब निकल गया है । मैं इस समय केवल एक ही जैनमन्दिर है, शेष जैनमन्दिर विकृत हैं । शिवमन्दिरोंके रूपमें दिखलाई देते हैं । यद्यपि उनके भीतर शिवदेवके स्थानमें शिवजी विराजमान हैं, परन्तु ऐसे अनेक हैं अब भी शेष हैं, जिनसे मालूम हो जाता है कि, पहले ये मन्दिर थे ।

मलखेड़में मूलसंघी भट्टारकोंकी एक गद्दी है । परन्तु इस समय की गद्दियोंके समान उसकी भी बहुत ही शोचनीय स्थिति है । भट्टारक कौन हैं, कैसे हैं और वहांका अद्वितीय ग्रन्थभंडार कहाँ इसका कुछ पता नहीं है । इस गद्दीको पहले निजामसरकारके शासकसे पांच ग्राम माफीमें लो हुए थे, परन्तु अब वे जव्त कर लिए गये हैं । पहले दक्षिणमें यह गद्दी सबसे मुख्य समझी जाती थी । तवाल, लाड, पंचम कासार, कंबोज आदि सारी जैन जातियोंके अधिपति भट्टारकको नियमित भेट दिया करती थीं, परन्तु अब यहांकी शाखाएँ लातूर और कारंजामें स्थापित हुईं,

नहीं रहा होगा। यह ठीक है कि, पट्ट स्थापन हानके पहले
 सौ दो सौ वर्ष दिगम्बर मुनियोंका अभाव रहा होगा। क्यों-
 ऐसा न होता, तो दिगम्बरोंके स्थानमें वखधारियोंका होना कोई
 न करता। लोगोंने समयको और मुनियोंके अभावको देखकर
 ही उपकारकी दृष्टिसे बहुत समझा होगा। परन्तु उस सौ दो
 के समयसे पहले वहां दिगम्बर मुनियोंका ही संग्रह रहा होगा।
 जिनसेन और गुणभद्राचार्य दिगम्बर ही होंगे। बल्कि उनके
 और भी सैकड़ों दिगम्बर मुनि होंगे, जिनका शासन वे करते
 हैं; इस विषयमें कोई सन्देह नहीं है।

मान्यखेटमें सेनसंघके सिवाय दूसरे संघोंके भी अनेक आचार्य
 होंगे, ऐसा जान पड़ता है। क्योंकि भगवान् अकलंकदेव
 जो कि देवसंघके आचार्य थे, इसी मान्यखेटमें हुए हैं। हा
 उन्होंने अकलंकचरित्रमें पढ़ा होगा कि, मान्यखेटमें विक्रमकी न
 ताब्दके लगभग महाराजा अमोघवर्षके ही घरानेका साह
 शुभतुंगया कृष्णराज) नामका राजा राज्य करता था। अ
 उसके प्रधान मंत्री पुरुषोत्तमके पुत्र थे। विद्य
 नेपर अकलंकदेवने शुभतुंगकी सभामें आकर निम्नलिखि
 थे, जो कि श्रवणवेलगुलके जिनमन्दिरकी एक शिला
 हैं:—

राजन् साहसतुंग सन्ति बहवः श्वेतातपत्रा नृपाः
 किन्तु त्वत्सदृशा रणे विजयिनस्त्यागोन्नता दुः

वेदके उत्तरार्धमें हुआ है। अकलंकके शिष्य प्रभाचन्द्र और लन्दि नवमी शताब्दिके पूर्वार्धमें हुए होंगे और हरिवंशके जिनसेनके समकालीन होंगे। उस समय राष्ट्रकूटवंशीय राजा य श्रीवल्लभ था। श्रीवल्लभ कृष्णराजका पुत्र और अमोघव-
दादा था। अतएव विद्यानन्दि और प्रभाचन्द्रका काल शक-
[७६० हो सकता है। इस तरह मान्यखेट नगर—जहाँ कि भग-
जिनसेनाचार्य तथा गुणभद्रस्वामी रहे हैं—बड़े २ भारी
य विद्वानोंका निवासस्थल और भगवती जिनवाणीका क्रीडा-
दर रह चुका है।

समयविचार।

भगवज्जिनसेनका जन्म जहांतक हमने विचार किया है, शक-
न् ६७९ (वि० सं० ८६०) के लगभग होना चाहिये।
किंकि जिनसेन नामके एक दूसरे आचार्यने अपने हरिवंशपुराण
के ग्रन्थमें निम्नलिखित श्लोकमें उनका और उनके गुरु वीरसे-
न उल्लेख किया है:—

जिनात्मपरलोकस्य कवीनां चक्रवर्तिनः ।

वीरसेनगुरोः कीर्तिरफलद्वयभासते ॥ ३९ ॥

यामिताऽभ्युदये तस्य जिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः ।

स्वामिनो जिनसेनस्य कीर्ती संकीर्तियत्यस्तौ ॥ ४० ॥

१. यह श्लोक अपने सप्रमाण सिद्ध है। जहाँ कि हरिवंशके कर्त्तव्य जिनसेन
हरिवंशपुराणके कर्त्तव्य जिनसेनके लिये है।

२. विली २ श्लोकमें " कर्त्तव्यजिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः " पद्य है।

नाका समय उसकी प्रशस्तिके निम्नलिखित श्लोकसे शकसंवत्
९ प्रतीत होता है:—

शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पञ्चोत्तरेपूत्तरां
पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम् ।
पूर्वा श्रीमदवन्तिभूमृतिनृपे वत्साधिराजेऽपरां
सौराणामधिमण्डलं जययुते वीरे वराहेऽवति ॥

भावार्थ—शकसंवत् ७०९ में जब कि उत्तर दिशामें कृष्ण-
द्विकानिका पुत्र इन्द्रायुध, दक्षिणमें श्रीवल्लभ (प्रभूतवर्ष), पूर्वमें अव-
राज, और पश्चिममें वत्सरान राज्य करते थे, तब इस ग्रन्थकी
रचना हुई ।

यह ७०९ शकसंवत् हरिवंशके समाप्त होनेका है । और हरि-
दशपुराणकी श्लोकसंख्या लगभग दशवारह हजार है । इतना बड़ा ग्रन्थ
बननेके लिये बहुत ही शीघ्रता की गई होगी, तो पांच वर्ष फिर भी लग-
ादिये होंगे । तब ग्रन्थके प्रारंभके समयमें जहां कि जिनसेनस्वामीकी
मुनिशंसा की गई है, और अन्त समयमें पांच वर्षका अन्तर हुआ । अ-
हरिवंशत् शकसंवत् ७०० (वि० ८३९) में ग्रन्थ प्रारंभ किया गया
गे, तो होगा । अब उसमेंसे २९ वर्ष निकाल दीजिये, तो जिनसेन स्वामीके
गौरव वन्मका अनुमानिक समय ६७९ शक निकल आवेगा ।

हरिदशपुराणके ऊपर दिये हुए श्लोकोंके विषयमें यदि कोई कहे
कि हरिवंशके कर्त्ताने जिन जिनसेनकी प्रशंसा की है, वे आदिपुराणके
कर्त्तासे पृथक् भी तो हो सकते हैं । तो उसका उत्तर यह है कि

इति श्रीवीरसेनीया टीका सूत्रार्थदर्शिनी ।
 मटग्रामपुरे श्रीमद्गुर्जरार्यानुपालिते ॥
 फाल्गुने मासि पूर्वाह्ने दशम्यां शुक्लपक्षके ।
 प्रवर्धमानपूजायां नन्दीश्वरमहोत्सवे ॥
 अमोघवर्षराजेन्द्रप्राज्यराज्यगुणोदया ।
 निष्ठितप्रचयं यायादाकल्पान्तमनल्पिका ॥
 पष्ठिरेव सहस्राणि ग्रन्थानां परिमाणतः ।
 श्लोकेनानुष्टुभेनात्र निर्दिष्टान्यनुपूर्वशः ॥
 विभक्तिः प्रथमस्कन्धो द्वितीयः संक्रमोदयः ।
 उपयोगश्च शेषास्तु तृतीयस्कन्ध इष्यते ॥
 एकान्नपष्ठिसमधिकसप्तशताब्देषु शकनरेन्द्रस्य ।
 समतीज्जेषु समाप्ता जयधवला प्राभृतव्याख्या ॥
 गाथासूत्राणि सूत्राणि चूर्णिसूत्रं तु वार्तिकम् ।
 टीका श्रीवीरसेनीयाऽशेषापद्धतिपञ्चिका ॥
 श्रीवीरप्रभुभाषितार्थघटना निलोडितान्यागम-
 न्याया श्रीजिनसेनसन्मुनिवरैरादेशितार्थस्थितिः ।
 टीका श्रीजयचिह्नितोरुधवला सूत्रार्थसम्बोधिनी
 स्थेयादारविचन्द्रमुज्ज्वलतमा श्रीपालसम्पादिता ॥

भावार्थ—इस प्रकारसे यह वीरसेनीया टीका जो कि सूत्रोंके
 प्रगट करनेवाली है बड़ी भारी है, और अमोघवर्ष महारा-
 ष्ट्रके विस्तृत राज्यके गुणोंके कारण जिसका उदय हुआ है,

सुदी दशमीके पूर्वाह्ने जव कि अष्टान्हिकाका महोत्सव या पूजा हो रही थी, पूर्ण हुई, सो कल्पकालपर्यन्त इसका कर्म नहीं होवे । अनुष्टुप् श्लोकोंकी गिनतीसे इस टीकाके कुल ६० श्लोक हुए हैं । इसमें तीन स्कन्ध हैं, जिनके क्रमसे विभक्ति, मोदय, और उपयोग ये तीन नाम हैं । शकसंवत् ७९ कपायप्राभृतकी यह जयधवला टीका समाप्त हुई । गा सूत्र, चूर्णिसूत्र, वार्तिक और वीरसेनीया टीका इस प्रकारसे चांगी टीकाका क्रम है । जिसमें वीरभगवान्के कहे हुए अभि संग्रह किया गया है, दूसरे आगमोंके विषय जिसमें विलोये ग श्रेष्ठ जिनसेन मुनीश्वरने जिसमें (अपने गुरुके) उपदेश किये अर्थोंकी रचना की है, श्रीपाल नामके मुनिने जिसे सम्पादन और सूत्रोंके अर्थका जिससे बोध होता है; ऐसी यह अतिशय या प्रकाशमान जयधवला टीका जबतक संसारमें सूर्य चंद्र हैं तक स्थिर रहे ।

इसमें कहीं वीरसेनीया और कहीं जयधवला टीका लिखी कर पाठक चक्करमें न पड़ें । वास्तवमें कपायप्राभृतकी (जिसे दोषप्राभृत भी कहते हैं और जो ज्ञानप्रवादनाम पांचवें पूर्वके वस्तुका तीसरा प्राभृत है) जो वीरसेनस्वामी और जिनसेनस्वामी ६० हजार श्लोक प्रमाण टीका है, उसका नाम तो वीरसेनीया और इस वीरसेनीया टीकासहित जो कपायप्राभृतके मूलसूत्र चूर्णिसूत्र वार्तिक वगैरह अन्य आचार्योंकी टीकाएं हैं, उन सबके जयधवलाटीका कहते हैं । यह संग्रह श्रीपाल

आचार्यने किया है, इसलिये जयधवलको 'श्रीपालसम्पादिता' दिया है। कपायप्राभृतके मूल गायसूत्र (१८३) श्लोक ध्वरणसूत्र (१०३ श्लोक) गुणधरमुनिकृत हैं, चूर्णिसूत्र (१०० श्लो०) यतिवृषभाचार्यकृत हैं और वार्तिक (६० श्लो०) बहुत करके वप्पदेवगुरुकृत हैं।

वीरसेनीया टीकाका प्रथमस्कन्ध जो कि २० हजार श्लोकका है सेनस्वामीने बनाया है, और शेष भाग उनके शिष्यने। के लिये इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार कथामें भी स्पष्ट शब्दोंमें देखा है:—

मागत्यं चित्रकूटात्ततः स भगवान्गुरोरनुज्ञानात् ।
माटग्रामे चात्रानतेन्द्रकृतजिनगृहे स्थित्वा ॥ १७८ ॥

व्याख्याप्रज्ञप्तिमवाप्य पूर्वपट्खण्डतस्ततस्तस्मिन् ।
उपरिमबन्धनाद्यधिकारैरष्टादशविकल्पैः ॥ १७९ ॥

सत्कर्मनामधेयं पष्टं खण्डं विधाय संक्षिप्य ।
इति पण्णां खण्डानां ग्रन्थसहस्रैद्विसप्तत्या ॥ १८० ॥

प्राकृतसंस्कृतभाषामिश्रां टीकां विलिख्य बद्धन्व्याम् ।
जयधवलां च कपायप्राभृतके चतसृणां विमर्त्तनाम् ॥ १८१ ॥

विंशतिसहस्रसङ्ग्रहचनया संयुतां विख्य दिवम् ।
यातस्ततः पुनस्तच्छिष्यो जयसेनगुणनामा ॥ १८२ ॥

१. इसका पहले १७६ और १७७ वें श्लोकमें मन्व्य है, जो पृष्ठ १७७ पर छुके हैं।

सहस्रप्रामितां धवलनामाङ्कितां लिखाप्य विंशतिसहस्रकर्म-
तं विचार्य वीरसेनमुनिः स्वर्गं यास्यति । तस्य शिष्यो
जिनसेनो भविष्यति सोऽपि चत्वारिंशत्सहस्रैः कर्मप्राभृतं समा-
नेष्यति । अमुना प्रकारेण षष्टिसहस्रप्रामिता जयधवलनामा-
ता टीका भविष्यति ।

इसका अभिप्राय वही है, जो ऊपर इन्द्रान्दिकृत श्रुतावतारके
कॉमें दिया है । केवल इतना अन्तर है कि जयसेनके स्थानमें
जिनसेनको वीरसेनका शिष्य बतलाया है ।

इसके शिवाय भगवद्गुणभद्रने उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें जिन-
स्वामीको सिद्धान्तशास्त्रका टीकाकार कहा है । यथाः—

जिनसेनभगवतोक्तं मिथ्याकविदर्पदलनमातिललितम् ।
सिद्धान्तोपनिबन्धनकर्त्रा भर्त्रा चिराद्विनायासात् ॥

इस श्लोकका सम्बन्ध पहलेके कई श्लोकोंसे है, जिनमें महा-
की प्रशंसा की गई है । विस्तारके भयसे हमने उन्हें न लिख-
वल इस एक ही श्लोकको लिखा है । इसका अभिप्राय यह
है, झूठे कवियोंके गर्वको दलन करनेवाला यह बहुत ही
महापुराण, विना ही परिश्रमके सिद्धान्तकी (कषाय-
की) शेष टीका बनानेवाले और चिरकाल तक संघका
करनेवाले भगवान् जिनसेनका कहा हुआ है । हम समझते
हैं, जयधवला टीकाके शेष भागके कर्ता जिनसेन ही हैं,
विषयमें अब और अधिक प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं

के जाननेका कोई साधन नहीं है कि, महापुराण किस समय किया गया और उसका उत्तरभाग गुणभद्राचार्यने किस समय ॥ शुरू किया । केवल उत्तरपुराणकी समाप्तिका समय । अन्त प्रशस्तिसे मालूम होता है:—

कनृपकालाभ्यन्तरविंशत्यधिकाष्टशतमिताब्दान्ते ।
 इंगलमहार्थकारिणि पिङ्गलनामनि समस्तजनसुखदे ॥३२॥
 गीपञ्चम्यां बुधार्द्रायुजि दिवसवरे मंत्रिवारे सुधांशौ ।
 र्वायां सिंहलये धनुषि धराणिजे वृश्चिकाकौ तुलागौ ॥
 द्यै शुक्रे कुलीरे गवि च सुरगुरौ निष्ठितं भव्यवयैः ॥
 ॥प्लेज्यं सर्वसारं जगति विजयते पुण्यमेतत्पुराणम् ॥३३॥

सका अभिप्राय यह है कि, शकसंवत् ८२० में यह महापुराण । हुआ । महापुराणके शेष भागके जिसको कि गुणभद्रस्वामीने किया है, दश हजार श्लोक हैं । यदि गुणभद्रस्वामी इसे लगा-वनाते गये हों, और दश दश पांच पांच श्लोक ही इसके प्रति-वनाते रहे हों, तो दश हजार श्लोकोंकी रचनाके लिये पांच वर्ष । लेना काफी है । अर्थात् उत्तरपुराणका प्रारंभ शकसंवत् ८१५ श्रमभग हुआ होगा, ऐसा अनुमान कर सकते हैं । परन्तु इससे समझ लेना हमारी भूल होगी कि, जिनसेनस्वामीका ८१५ के ंग देहान्त हुआ होगा । क्योंकि इस कालमें १४० वर्षकी आयु । एक प्रकारसे असंभव है । इससे जान पड़ता है कि, जिनसेन-शिका शरीरान्त होनेपर महापुराण बहुत वर्षों तक अधूरा पड़ा है, और फिर गुणभद्रस्वामीने उसमें हाथ लगाया है । हम

गुणभद्रस्वामी कबसे कब तक रहे, इसका ज्ञान करनेमें और कठिनता है। क्योंकि उन्होंने उत्तरपुराणके सिवाय अन्य भी ग्रन्थमें अपनी प्रशस्ति नहीं दी है। और न उस समयकेसी विद्वानका किया हुआ उल्लेख उनके विषयमें मिलता है। श्री-जिनसूरिके बनाये हुए दर्शनसारके कुछ गाथा हम ऊपर दे चुके जेनमें यह कहा गया है कि, जिनसेनस्वामीके शिष्य गुणस्वामी थे। उन्होंने विनयसेनमुनिके शरीरान्त होनेपर सिद्धा-न्ता उपदेश किया और पीछे वे भी स्वर्गलोकको सिधारे। फिर यसेनका शिष्य कुमारसेन था, सो उसने संन्यासभ्रष्ट होकर आसंब चलाया। इससे यह अभिप्राय निकलता है कि, विनयसेन गुणभद्रस्वामीकी मृत्युके पश्चात् कुमारसेन संन्यासभ्रष्ट था है, और फिर उसने काष्ठासंब चलाया है। काष्ठासंब कब चला इसके लिये दर्शनासारकी उक्त गाथाओंके आगे ही कहा है:—

सत्तसये तेवण्णे विक्रमरायस्स मरणपत्तस्स ।

नांदियडे वरगामे कट्ठोसंधो मुणेयव्वो ॥ ३९ ॥

नांदियडे वरगामे कुमारसेणो य सत्थविण्णाणी ।

कट्ठो दंसणभट्ठो जादो सल्लेहणाकाले ॥ ४० ॥

अर्थात् विक्रमराजा (शालिवाहन) की मृत्युके ७९३ वर्ष पीछे ज्जीतट ग्राममें काष्ठासंब उत्पन्न हुआ। उक्त ग्राममें शाखोंका ज्ञाता मारसेन सल्लेखनाके समय दर्शनसे भ्रष्ट हो गया।

१. यह निश्चय हो चुका है कि, शकसंवत्के चलानेवाले शालिवाहनका न विक्रम था। जैनग्रन्थोंमें जहां विक्रमाब्द लिखा रहता है, वहां बहुत रके शकसंवत्के ही अभिप्रायसे लिखा रहता है।

अन्तमन्दिरमें उसकी एक प्रति है, और जिनेन्द्रगुणस्तुति तथा मानपुराणनामके दो ग्रन्थोंका पता हरिवंशपुराणकी प्रस्तावनासे ही है, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है, परन्तु अभी तक ग्रन्थोंका अस्तित्व कहींपर सुननेमें नहीं आया है। शायद आपको यह ज्ञात भी नहीं है कि, जिनसेनस्वामीके बनाये हुए मानपुराण तथा जिनेन्द्रगुणस्तुति नामके भी कोई ग्रन्थ हैं। ग्रन्थोंके सिवाय सुप्रसिद्ध हरिवंशपुराण भी जिनसेनस्वामीका बना हुआ कहलाता है। बल्कि प्रोफेसर के. वी. पाठक, श्रीयुक्त एस. कुपूस्वामी शास्त्री आदि कई विद्वानोंने इस विषयका ध्यानमें उल्लेख भी किया है। इस लेखके लिखनेका प्रारंभ करने तक इस निबन्धलेखकका भी यही खयाल था कि, हरिवंशपुराण और आदिपुराणके कर्त्ता जिनसेन एक ही हैं। परन्तु पीछे विचार करनेसे अच्छीतरह निश्चय हो गया कि, आदिपुराणके कर्त्ता जिनसेनसे हरिवंशपुराणके कर्त्ता जिनसेन जुड़े थे। पठकोंके विश्वासके लिये इस विषयमें हम यहांपर थोड़ेसे प्रमाण देते हैं:—

१ आदिपुराणके कर्त्ता जिनसेनके विद्यागुरुका नाम वीरसेन और क्षागुरुका नाम जयसेन था, ऐसा ऊपर आदिपुराण, पार्श्वीभ्युदय, उत्तरपुराण, श्रुतावतार, दर्शनसार आदि कई ग्रन्थोंके आधारसे प्रकट किया जा चुका है, परन्तु हरिवंशपुराणके कर्त्ता अपने गुरुका नाम जतिसेन लिखते हैं।

२ आदिपुराणकारने अपने संघका नाम सेन लिखा है, परन्तु हरिवंशके कर्त्ता संघ आदि कुछ भी नहीं लिखकर

सहोदर कीर्तिपेण आचार्य हुए, जो शांत, पूर्णबुद्धि, तपस्वी, और मूर्तिमंत शरीर थे । इन कीर्तिपेणके मुख्य शिष्य और नेमि-
के भक्त जिनसेनसूरिने अपनी अल्पबुद्धिके अनुसार यह हरिवंश-
। बनाया । यदि इसमें कहीं प्रमादवश भूल हुई हो, तो उसे
। इरहित पुराणज्ञ ठीक कर दें । क्योंकि कहां तो प्रशस्तवंश
। शरूपी पर्वत और कहां मेरी अतिशय न्यूनशक्तिवाली बुद्धि !
। पुत्राटगण चार संघोंमेंसे किस संघके अन्तर्गत है, यह हम नि-
। पूर्वक नहीं कह सकते हैं । परंतु हरिवंशपुराणकी प्रशस्तिका
। अंतिम श्लोक है, उससे तो ऐसा जान पड़ता है कि, पुत्राट
। का कोई जुदा संघ ही है । वह श्लोक यह है:—

व्युत्सृष्टापरसंघसन्ततिवृहत्पुत्राटसंधान्वये

प्राप्तः श्रीजिनसेनसूरिकविना लाभाय बोधे पुनः ।

दृष्टोऽयं हरिवंशपुण्यचरितः श्रीपार्वतः सर्वतो

व्याप्ताशामुखमण्डलस्थिरतरः स्थेयात्पृथिव्यां चिरम् ॥

अर्थात् दूसरे संघोंकी सन्ततिको जिसने छोड़ दी है, ऐसे बड़े
। पुत्राट संघकी परिपाटीमें होनेवाले श्रीजिनसेनसूरि कविने सम्यग्ज्ञानके
। के लिये जो यह हरिवंशका पुण्यचरित्ररूपी शोभामय पर्वत
। का है—रचा है, वह सब ओरसे आशाओंके (दिशाओंके वा
। ङ्छाओंके) मुखमंडलको व्याप्त करता हुआ पृथ्वीमें चिरकाल तक
। रह रहे ।

इण्डियन ऐन्टिकेरी (१२।१३—१६) में राष्ट्रकूटवंशीय
। शरान प्रभूतवर्ष (द्वितीय) का जो दानपत्र प्रकाशित हुआ है

भिन्न २ हैं । दोनोंकी काव्यशैली, कथानक कहनेका ढंग, कथाएँ, कल्पनाएँ, आदि सभीमें बहुत बड़ा अन्तर दिखाई देता है ।

यहाँ विषयान्तर होता है तो भी हम अपने पाठकोंसे क्षमा कर यह कह देना भी आवश्यक समझते हैं कि, हरिवंशपुराणको पद्मपुराणको जो कई लोगोंने काष्ठासंघी आचार्योंका बनाया था समझ रक्खा है, सो केवल भ्रम है । क्योंकि जिस समय ये दोनों ग्रन्थ बने हैं, उस समय काष्ठासंघका सूत्रपात भी हुआ था । क्योंकि काष्ठासंघकी उत्पत्ति दर्शनसारके मतमें कृष्णसंवत् ८४२ (शकमृत्यु ७९३) में जिनसेनके सतीर्थ जिनसेनके शिष्य कुमारसेन द्वारा हुई है, जैसा कि हम पूर्वमें लिख चुके हैं (देखो पृष्ठ ३७) और हरिवंशपुराण शकसंवत् ७०९ में बना है, तथा पद्मपुराण उससे भी पहले वीर नि० संवत् १२०३ में अर्थात् शकसंवत् ९९८ में रचा गया है । हरिवंशपुराणके कर्त्तव्य रविपेणाचार्यकी स्तुति की है, इससे भी मालूम होता है कि यह हरिवंशसे भी पहलेका है । अतएव पद्मपुराण और हरिवंशपुराण काष्ठासंघी नहीं है । इनका कथाभाग उत्तरपुराणमें नहीं

१. कथा—वृत्तपद्मोदयोद्योता प्रत्यहं परिवर्तिता ।

मूर्तिकाव्यमयी लोकं रवेरिव रवेःप्रिया ॥ ३४ ॥

चरांगनेय सर्वगैर्वरांगचरितार्थवाक् ।

कस्य नोत्पादयेद्गाटमनुरागं स्वगोचरम् ॥ ३५ ॥

इन श्लोकोंमें यह भी मालूम होता है कि, रविपेणरत्नमणि पद्मपुराणके कर्त्तव्य चरांगचरित्र नामका भी एक बहुत उत्तम काव्य बनाया है ।

भिन्न २ हैं । दोनोंकी काव्यशैली, कथानक कहनेका ढंग, ज्ञाएँ, कल्पनाएँ, आदि सभीमें बहुत बड़ा अन्तर दिखाई है ।

यहां विषयान्तर होता है तो भी हम अपने पाठकोंसे क्षमा कर यह कह देना भी आवश्यक समझते हैं कि, हरिवंशपुराणको पद्मपुराणको जो कई लोगोंने काष्ठासंघी आचार्योंका बनाया समझ रक्खा है, सो केवल भ्रम है । क्योंकि जिस य वे दोनों ग्रन्थ बने हैं, उस समय काष्ठासंघका सूत्रपात भी हुआ था । क्योंकि काष्ठासंघकी उत्पत्ति दर्शनसारके मतसे जन्म संवत् ८४२ (शकमृत्यु ७५३) में जिनसेनके सतीर्थ यसेनके शिष्य कुमारसेन द्वारा हुई है, जैसा कि हम पूर्वमें लिख हैं (देखो पृष्ठ ३७) और हरिवंशपुराण शकसंवत् ७०५ में है, तथा पद्मपुराण उससे भी पहले वीर नि० संवत् १२०३ में शकसंवत् ५९८ में रचा गया है । हरिवंशपुराणके कवे रविपेणाचार्यकी स्तुति की है, इससे भी मालूम होता है कि हरिवंशसे भी पहलेका है । अतएव पद्मपुराण और हरिवंश-ण काष्ठासंघी नहीं है । इनका कथाभाग उत्तरपुराणसे नहीं

१. यथा—कृतपद्मोदयोद्योता प्रत्यहं परिवर्तिता ।

मूर्तिकाव्यमयी लोके रवेरिव रवेःप्रिया ॥ ३४ ॥

चरांगनेव सर्वांगैर्वरांगचरितार्थवाक् ।

कस्य नोत्पादयेद्गाढमनुरागं स्वगोचरम् ॥ ३५ ॥

इन श्लोकोंसे यह भी मालूम होता है कि, रविपेणस्वामीने पद्मपुराणके सि-
य चरांगचरित्र नामका भी एक बहुत उत्तम काव्य बनाया है ।

यधवलाटीकाका शेषभाग भगवज्जिनसेनका बनाया हुआ है । कई प्रमाण पहले दिये जा चुके हैं । उनके सिवाय प्राकृत-
नुशासनके कर्ता महाकवि त्रिविक्रमकी प्रशस्तिसे भी इस बातका
प्राप्ता है, कि जिनसेनस्वामीने कोई प्राकृतका ग्रन्थ बनाया है
उह बहुत करके यही संस्कृतप्राकृतमिश्र वीरसेनीया टीकाका
ग होगा:—

तुभर्तुरर्हनन्दित्रैविद्यमुनेः पदाम्बुजभ्रमरः ।

गीवाणसुकुलकमलद्युमणेरादित्यशर्मणः पौत्रः ॥

मीमल्लिनाथपुत्रो लक्ष्मीगर्भामृताम्बुधिसुधांशुः ।

सोमस्य वृत्तविद्याधाना भ्राता त्रिविक्रमः सुकविः ॥

श्रीवीरसेनजिनसेनाचार्यादिवचःपयोधितः कतिचित् ।

प्राकृतपदरत्नानि प्राकृतकृतिभूपणाय विचिनोति ॥

इसका भावार्थ यह है कि, अर्हनन्दि त्रैविद्यमुनिका शिष्य, आ-
शर्माका पौत्र, मल्लिनाथका पुत्र, लक्ष्मीमाताके गर्भसमुद्रसे
ला हुआ चन्द्रमा और सोमका भाई त्रिविक्रम सुकवि वीरसेन
सेन आदि आचार्योंके वचनसमुद्रसे कुछ प्राकृतपदरूपी रत्न
गलकर अपनी प्राकृतरचनाकी शोभाके लिये संग्रह करता है ।

इस तरह जिनसेनस्वामीके बनाये हुए वर्द्धमानपुराण, पार्श्व-
ते, जयधवला टीका, आदिपुराण, और पार्श्वाम्बुदयकाव्य
। पाँच ग्रन्थोंका निश्चित रूपसे पता लगता है । इनके सिवाय

१. भगवज्जिनसेनका बनाया हुआ एक जिनसहस्रनामस्तोत्र भी है,
नु यह आदिपुराणके अन्तर्गत है, इसलिये जुदा नहीं गिनाया गया ।

इस भरतक्षेत्रके सुरम्य नामक देशमें एक पोदनपुरी की नगरी थी, जिसमें अरविंद नामक राजा राज्य करता था। राजाके मंत्री विश्वभूतिके कमठ और मरुभूति नामके दो थे। अवस्था प्राप्त होनेपर इन दोनोंको मंत्रीका पद प्राप्त हुआ और क्रमसे वरुणा और वसुंधरा नामकी सुन्दर कन्याओंके साथ इन दोनोंका विवाह हो गया। एक बार अरविन्दमहाराज मरुभूतिको अपने साथ लेकर वज्रवीर्य नामक राजाको जीतने लिये उसकी राजधानीपर चढ़ गये। इधर कमठका मन मरुभूतिकी स्त्री वसुंधरापर आसक्त हो रहा था, सो उसने अवसर पकड़ कर अपनी स्त्री वरुणाके द्वारा वसुंधराको एकान्तमें प्राप्त करके उसका प्रकारके कामकौशलोंसे वशमें कर ली और उसका शील नष्ट कर दिया। परन्तु यह बात छुपी नहीं रही। अरविन्द महाराजको पता टकर अपनी राजधानीमें प्रवेश करनेके पहिले ही इसका पता लगाया, इसलिये उन्होंने मरुभूतिमें पूछा कि, भाईकी स्त्रीके साथ तैयार होनेवालेको क्या दंड देना चाहिये ? और उसने जो उत्तर दिया उसीके अनुसार कमठको यह आज्ञा देकर नगरीसे निकलवा दिया कि अब वह कभी मेरी दृष्टिके साम्हने न आवे। निदान कमठ मरुभूतिपर क्रुद्ध होकर घरसे निकल गया और वनमें तापसी होकर शयन करने लगा। मरुभूतिकी हृदय बहुत कोमल था; इसलिये तब उसने घर आकर यह सुना कि, मेरा भाई देशसे निकाल दिया गया है, तब बहुत दुःखी हुआ और पश्चात्ताप करता हुआ कमठके पास पहुंचा। वहां उसका क्रोध शान्त करनेके लिये



। कितना कठिन कार्य है, इसे काव्यरचनाके मर्मज्ञ-
 त अच्छी तरहसे समझ सकते हैं। ऐसी रचनाओंमें क्लिष्टता और
 रता आनेकी बहुत बड़ी संभावना है। परन्तु पार्श्वाम्युदय क्लिष्टता
 निरसताके दोषोंसे साफ वच गया है। आप इसके किसी भी
 कको पढ़ेंगे तो यह नहीं मालूम होगा कि, हम किसी काव्यकी
 त्यापूर्ति पढ़ रहे हैं। आपको एक नवीन ही शैलीके काव्यका
 वाद मिलेगा।

केवल अपने अध्ययनके और अपनी जांचके भरोसे हमारा यह
 ना तो बड़े भारी साहसका कार्य होगा कि महाकवि जिनसेनकी
 नेता कविकुलगुरु कालिदासकी कविताके जोड़की है। परन्तु
 ना कहे विना तो नहीं रहा जाता है कि, कालिदासके ग्रन्थोंका
 तना अध्ययन, अध्यापन, आलोचन, और प्रत्यालोचन हुआ है
 तना यदि जिनसेनके ग्रन्थोंका हो, तो इस कविश्रेष्ठका आसन
 कृतसाहित्यमें आशासे भी अधिक ऊंचा हुए विना नहीं रहेगा।
 द इसी बातका है कि, धार्मिक पक्षपातके कारण अजैन विद्वानोंमें
 इन ग्रन्थोंका पठन पाठन नहीं रहा है और जैनियोंमें कोई
 द्वान् नहीं है। जो थोड़े बहुत हैं, उनकी विद्या ऐसी निकम्बी
 और निर्वीर्य है कि, उसके द्वारा इन रत्नोंके गुण प्रगट होनेकी
 आशा ही नहीं की जा सकती है। तो भी क्या चिन्ता है— कालो-
 यं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी। हमको विश्वास है कि कभी न
 म्भी निष्पक्ष विद्वानोंके हाथमें जाकर जिनसेनके ग्रन्थ अपने यथार्थ
 णोंको प्रगट किये विना नहीं रहेंगे।

“ यत्र स्त्रीणां हरति सुरतिग्लानिमङ्गानुकूलः

शिभावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः ॥ ” ११२ ॥

प्रार्थना—उस नगरीमें पानीकी लहरोंके संयोगसे शीतल रहने-
पानीके बिन्दुओंको अपने साथ उड़ानेवाला, और बगीचोंको
यमान करनेवाला शिप्रानदीका वायु मतवाले भौरों सरीखा शब्द
हुआ चलता है और सुरतक्रीड़ा करनेके लिये चाटुकार
(शामद) करनेवाले पतिके समान स्त्रियोंके अंगोंसे लगकर उनके
(वेकृत) सुरतक्रीड़ाके खेदको दूर कर देता है ।

चित्रं तन्मे यदुपयमनानन्तरं विप्रयुक्ता

त्वत्तः साध्वी सुरतरसिका सा तदा जीवतिस्म ।

मन्ये रक्षत्यसुनिरसनाद्धातुमापद्रताना—

“ माशावन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानाम् ” ॥३५॥

शम्बर (कमठचर) यक्ष पार्श्वनाथस्वामीसे कहता है—मुझे
आश्चर्य मालूम होता है कि विवाहके पश्चात् तुझसे जुदी हो
पर तेरी सुरतरसिका और साध्वी स्त्री (वसुंधरा) जीती बनी
। यद्यपि दुखिनी स्त्रियोंका आशारूपी बंधन फूलके समान
ल होता है । परन्तु मैं तो समझता हूँ कि उनके प्राणोंको
जलनेसे वही बचा लेता है ।

त्वत्सादृश्यं मनसि गुणितं कामुकीनां मनोहृत्

कामावाधां लघयितुमथो दृष्टुकामा विलिख्य ।

यावत्प्रीत्या किल बहुरसं नाथ पश्यामि कोष्णै—

“ रसैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे ॥ ” ३५ सर्ग ५॥

सुन्दर दन्तोंवाली वसुंधराको मैंने (कमठने) दूषित की थी जो मेरे आनेके दिनोंकी गिनती किया करती थी, उसका अज्ञात-ने ध्यान करता है । इसमें सन्देह नहीं है ।

पार्श्वाम्बुदयकी कविताकी वानगीके लिये हम समझते हैं कि श्लोक बस होंगे । काव्यमर्मज्ञ पाठकोंसे यहां हम एक प्रार्थना देना उचित समझते हैं कि, जिस समय आप पार्श्वाम्बुदयकी ना किसी दूसरे ग्रन्थसे करें, उस समय इस बातको न भूल जावें इसकी रचनामें कवि अपनी कल्पनाको बहुत ही परिमित और चित क्षेत्रमें रखनेके लिये विवश हुआ है । आपको यह देखना हेये कि, समस्याके एक नियमित प्रदेशमें इस महाकविकी प्रतिभा कल्पनाने कैसा मनोहारी नृत्य किया है । यदि आप ऐसा न गे, और किसी स्वतंत्र काव्यके साथ इसको भी स्वतंत्र काव्य कर तुलना करेंगे, तो आपकी तुलना न्यायसंगत नहीं होगी । को विश्वास है कि, यदि आप इस काव्यको सच्चे समालोचकके ासे देखेंगे, तो योगिराट् पंडिताचार्यके इस श्लोकको दुहराये ना नहीं रहेंगे कि:—

श्रीपार्श्वत्साधुतः साधुः कमठात्खलतः खलः ।

पार्श्वाम्बुदयतः काव्यं न च क्वचिदपीप्यते ॥ १७ ॥

अर्थात्—श्रीपार्श्वनाथमे बढ़कर कोई साधु, कमठमे बढ़कर कोई ष्ट और पार्श्वाम्बुदयसे बढ़कर कोई काव्य नहीं दिखलाई देता है ।

पार्श्वाम्बुदय काव्य अमोघवर्षके राज्यकालमें बना है, ऐसा उसकी अन्तःप्रशस्तिके श्लोकसे विदित होता है—

योजि न वेश्म स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म ।
नयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः ।

पंचाशत्सु कलौ काले पट्सु पंचशतेषु च
समासु समतीतासु शकानामपि भूभुजाम् ॥

समें रविकीर्तिने आपको कालिदास और भारवि सरीखा शाली कवि कहा है और मन्दिर बननेका समय शकसंवत् ६ वतलया है । इससे मालूम होता है कि, कालिदास शक ६ से भी बहुत पहिले हो गये हैं । रविकीर्तिके समयमें भी किर्ति देशव्यापिनी हो चुकी थी । इसलिये उनका जिनसे-साक्षात्कार नहीं हो सकता है ।

मेघदूत संस्कृतके सर्वोत्तम काव्योंमें गिना जाता है और वास्तव-वह है भी बहुत मनोहर । तब रविकीर्ति जिसकी कीर्तिकी लिये उपमा देकर आपको गौरवान्वित मानते हैं, उस कालि-को छोड़कर मेघदूतको किसी अप्रसिद्ध कालिदासका बनाया कल्पित करना हमें तो ठीक नहीं मालूम होता है ।

योगिराट् पंडिताचार्यकी उक्त कथा यों तो पढ़नेमें अच्छी और आवशालिनी मालूम होती है, परंतु उसमें जो कालिदासके प्रति नसेनस्वामीकी असूया और असत्यभाषणता प्रगट की गई वह एक पूज्य ग्रन्थकारके चरितके सर्वथा अयोग्य है । उससे संसा होना तो दूर रहा, भगवान् जिनसेन जैसे विरागी मनोनिग्रही आत्माके पवित्र चरित्रमें एक बड़ा भारी लंछन लगता है ।

आदिपुराण पूर्ण हुआ है और शेष ८००० श्लोकोंमें उत्तर-
 । समाप्त हुआ है । आदिपुराणमें ४७ पर्व वा अध्याय हैं । जिनमें
 पर्व पूरे और ४३ वें पर्वके तीन श्लोक जिनसेनस्वामीके बनाये
 हैं । शेष पांच पर्व (१६२० श्लोक) गुणभद्रस्वामीके बनाये
 हैं । भगवान् जिनसेन ४३ वें पर्वके केवल तीन श्लोक ही बना
 थे कि; उनका देहोत्सर्ग हो गया । कहते हैं कि, जिस समय
 जिनसेनस्वामीने महापुराणका प्रथम मंगलाचरणका श्लोक बनाया था;
 समय उन्होंने अपने शिष्योंसे कह दिया था कि; यह ग्रन्थ
 से पूर्ण नहीं होगा । मंगलाचरणके श्लोकमें जो अक्षर और
 ङ योजित हुए थे; उनके निमित्तमे उस विशाल बुद्धिशाली महात्माने
 भविष्य कहा था और निदान वह पूर्ण हुआ ! शेष
 य गुणभद्राचार्यने पूर्ण करके अपनी गुरुभक्तिका परिचय दिया ।
 पं० कुप्पूस्वामी शास्त्री आदि कई एक विद्वानोंका ऐसा ख्याल
 कि, महापुराण जैनियोंका सबसे पहिला ग्रन्थ है । इसके पहिले
 नका और कोई पुराण ग्रन्थ नहीं था । और इसके लिये वे
 स्तमहि कविके विक्रान्तकौरवीय नाटकका यह श्लोक पेश
 रते हैं,—

तच्छिष्यप्रवरो जातो जिनसेनमुनीश्वरः ।

यद्वाच्यं पुरोरासीत पुराणं प्रथमं भुवि ॥

इसका अभिप्राय यह है कि, उनके (वीरमेनके) शिष्य जिनसेन
 ए, जिन्होंने पुरुदेवका अर्थात् आदिनाथ भगवानका मुख्य
 राण बनाया । इस श्लोकमें जो ' प्रथम ' पद है, उसका अर्थ

र्यात्—वह कविपरमेश्वर कवियोंके द्वारा पूजने योग्य है, वाणी और उसके अर्थका जिसमें संग्रह है, ऐसा सम्पूर्ण बनाया । इससे यह भी मालूम पड़ता है कि, कविपरमेष्ठीका हुआ एक ऐसा पुराण है, जिसमें समस्त ६३ श्लोका का चरित्र होगा और प्रायः उसीके आधारसे महापुराणकी हुई होगी ।

और यही एक क्यों वीसों प्रमाण इस विषयमें दिये जा सकते हैं, आदिपुराणके पहिले अनेक पुराण ग्रन्थ थे, जिनमें आदिपुराणकी कथाका अस्तित्व था । हरिवंशपुराण, पद्मपुराणादि ग्रन्थ आदिपुराणके पहिलेके बने हुए हैं और उनमें आदिपुराणका बहु-कथाभाग मिलता है । इसके शिवाय आदिपुराणकी उत्था-के निम्न श्लोकोंसे भी मालूम होता है कि, जिनसेनके पहिले क पुराणकार हो गये हैं,—

नमः पुराणकारेभ्यो यद्वक्त्राब्जे सरस्वती ।

येपामन्यकवित्वस्य मूत्रपातायितं वचः ॥ ४१ ॥

धर्ममूत्रानुगा हृद्या यस्य वाङ्मणयोऽमलाः ।

कथालङ्कारतां भेजुः काणभिक्षुर्जयत्यसौ ॥ ५१ ॥

पहिले श्लोकमें पुराण बनानेवालोंको नमस्कार किया है, जिनके कथनोंके आधारसे दूसरोंने ग्रन्थ बनाये हैं और दूसरेमें काणभिक्षु

१. आदिपुराणके भाषा और मराठी टीकाकारोंने इस श्लोकके ऊपरके श्लोकमें न जयसेनकी प्रशंसा की है, कविपरमेश्वरको उनकी विशेषण (कवियोंने धेट) मना लिया है । परन्तु यह केवल धन है । कविपरमेश्वर एक कविका नाम है न

कर्त्ताको इस बातकी कुछ परवा नहीं है । वे अपने इस दोषको
ण समझते हैं । वे कहते हैं:—

धर्मानुबन्धिनी या स्यात्कविता सैव शस्यते ।

शेषा पापास्रवायैव सुप्रयुक्तापि जायते ॥ ६३ ॥

परे तुष्यन्तु वा मा वा कविः स्वार्थं प्रतीहताम् ।

न पराराधनाच्छ्रेयः श्रेयः सन्मार्गदेशनात् ॥ ७६ ॥

(प्रथमपर्व)

अर्थात् जो कविता धर्मसम्बन्धी है, उसीकी प्रशंसा की जाती
पर जो धर्मसम्बन्धी नहीं है, वह चाहे जैसी अच्छी बनी हो,
का आखव करनेवाली ही होगी । दूसरे लोग चाहे प्रसन्न हों,
है न हों, कविको अपना स्वार्थ (आत्महित) देखना चाहिये ।
कि दूसरोंकी आराधना करनेसे—वा उन्हें राजी रखनेसे कल्याण
ही होता है । कल्याण होता है, सच्चे धर्मका उपदेश देनेसे । अभि-
य यह कि, कविको धर्मोपदेशमय कविता करनी चाहिये । इस
तकी परवा नहीं करना चाहिये कि, इससे कोई प्रसन्न होगा
नहीं । और सब कोई प्रसन्न हो भी तो नहीं सकते हैं । क्योंकि
गोंकी रुचि ही भिन्न २ होती है । किसीको शब्दसौन्दर्य प्रिय
, कोई भावसौष्टवको पसन्द करता है, किसीको बड़े २ समास
च्छे लगते हैं, कोई छोटे २ सरल पदोंसे प्रसन्न होता है, किसी-
गे श्लेषादि अलंकारोंसे ढकी हुई कविता प्यारी लगती है, किसीका
न उसके प्राकृतिक स्पष्ट रूपपर मोहित होता है और कोई
न गुणोंसे भिन्न जुदी ही बातोंके प्रेमी हैं । फिर सबके प्रसन्न कर-
की इच्छा कैसे पूर्ण हो सकती है ?

वर्णन बहुत ही अच्छा है। इसके पढ़नेसे सारे शास्त्रोंके उत्कृष्ट साक्षात् हो जाते हैं अर्थात् इसमें सम्पूर्ण शास्त्रोंके रहस्यका है। दूसरे काव्योंको यह तिरस्कृत करता है अर्थात् इसके और कोई अच्छा काव्य नहीं है। यह श्रवण करनेके योग्य श्रव्य काव्य है और विद्वानोंके ग्रहण करने योग्य है, मिथ्या के अभिमानको यह नष्ट कर देता है और बहुत ही सुन्दर से सिद्धान्तकी टीका करनेवाले और चिरकाल तक शिष्योंका करनेवाले जिनसेनस्वामीने बनाया था। इसका अंश (९ पर्व) निर्मल बुद्धिशाली गुणभद्रसूरिने बहुत विस्तारके और हीनकालके अनुरोधसे थोड़ेमें संग्रह किया।

क और कविने कहा है:—

यदि सकलकवीन्द्रप्रोक्तसूक्तप्रचार-
श्रवणसरसचेतास्तत्त्वमेवं सखे स्याः ।
कविवरजिनसेनाचार्यवक्त्रारविन्द-
प्रणिगदितपुराणाकर्णनाभ्यर्णकर्णः ॥

अर्थात्—हे मित्र ! यदि तुम सारे कवियोंकी सूक्तियोंको सुनकर हृदय बनना चाहते हो, तो कविवर जिनसेनाचार्यके मुखकमलसे हुए आदिपुराणके सुननेके लिये अपने कानोंको लाओ ।

समग्र महापुराणकी प्रशंसामें कहा है:—

धर्मोत्र मुक्तिपदमत्र कवित्वमत्र
तीर्थेशिनां चरितमत्र महापुराणे ।

सहित छप गया है । इसलिये जिन भाइयोंको संस्कृतका ज्ञान
 मथवा मराठीका परिचय है, उन्हें इसकी मधुर और सरस क-
 का आस्वादन अवश्य करना चाहिये ।

इस १२ हजार श्लोकाँके बड़े भारी ग्रन्थमेंसे भिन्न २ रुचिके
 कोंको अच्छे लेंगे, ऐसे दश पांच श्लोक नहीं चुने जा सकते हैं,
 भी हम अपने स्वाध्यायके समय नोट किये हुए कुछ श्लोकोंको
 भावार्थसहित प्रकाशित कर देते हैं । वे सबको नहीं, तो हमारीसी
 वाले पाठकोंको अवश्य प्यारे लेंगे—

चक्रवर्तीके दीक्षा लेजानेपर लक्ष्मीमती रानीके भेजे हुए दूत वज्र-
 महाराजके पास आकाशमार्गसे जा रहे हैं । देखिये, उस सम-
 का कविने कैसा अच्छा प्राकृतिक चित्र खींचा है:—

क्वचिज्जलधरांस्तुङ्गान्स्वमार्गपरिरोधिनः ।
 विभिन्दन्तौ पयोविन्दून्क्षरतोऽश्रुलवानिव ॥ १०० ॥
 तौ पश्यन्तौ नदी दूरात्तन्वीरत्यन्तपाण्डुराः ।
 घनागमस्य कान्तस्य विरहेणेव कर्शिताः ॥ १०१ ॥
 मन्वानौ दूरभावेन पारिमाण्डल्यमागतान् ।
 भूमाविव निमग्राङ्गानवर्कतापभयाद्गिरीन् ॥ १०२ ॥
 दीर्घिकाम्भो भुवन्यस्तमिवैकमतिवर्तुलम् ।

तिलकं दूरताहेतोः प्रेक्षमाणावनुक्षणम् ॥ १०३ ॥ [पर्व ८]

कही २ वे दूत अपने मार्गको रोकनेवाले बड़े २ मेघोंको भेड़ते हुए जाते
 । उन समय उनमेंसे जो पानीकी बूँदें झरती हैं, वे उनके आंसुओं
 गिरी जान पड़ती हैं । नीचेकी नदी बहुत लंबाईके कारण उन्हें पतली

कारसे इसकी कवितामें जो सुन्दरता, कोमलता और स्वाभाविकता वह पार्श्वभ्युदयमें भी नहीं है।

आदिपुराणके अन्तके ५ सर्ग गुणभद्रस्वामीके बनाये हुए हैं, ॥ पूर्वमें कहा जा चुका है। ये पांच सर्ग आदिपुराणमें शामिल के सर्वथा योग्य हुए हैं। अपने पूज्य गुरुकी कविताकी समता में गुणभद्रस्वामीने वैसी ही सफलता प्राप्त की है, जैसी कि वाणके पुत्रने अपने पिताकी अधूरी कादम्बरीको पूर्ण करनेमें पाई है। कार्य गुणभद्रके सिवाय दूसरेसे शायद ही ऐसा अच्छा होता। लेख इच्छासे बहुत अधिक बढ़ गया है, इसलिये गुणभद्रस्वामिका कवित्व कैसा है यह बतलानेके लिये अधिक स्थान न रोक हम उस भूमिकाके थोड़ेसे श्लोक ही यहां उद्धृत कर देते हैं, कि उन्होंने आदिपुराणका शेष भाग पूर्ण करनेका प्रारंभ करते लिये लिखे हैं—

निर्मितोऽस्य पुराणस्य सर्वसारो महात्मभिः ।

तच्छेषे यतमानानां प्रसादस्येव नः श्रमः ॥ ११ ॥

अर्थात् इस पुराणका मुख्य सारभाग महात्मा जिनसेन बना चुके। अब उसके शेष भागको पूरा करनेका हमारा परिश्रम वैसा ही, जैसा एक महलके थोड़ेसे बाकी रहे कार्यको पूरा करना।

इक्षोरिवास्य पूर्वार्द्धमेवाभावि रसावहम् ।

यथा तथाऽस्तु निष्पत्तिरिति प्रारभ्यते मया ॥ १४ ॥

जिस तरह गन्नेका पूर्वभाग (नीचेका हिस्सा) अतिशय रसीला होता है, उसी प्रकारसे इस आदिपुराणका पूर्वभाग हुआ है।

रानी जैसे अपनी पुत्रीको केवल उत्पन्न करती है—पालती नहीं उसी प्रकारसे मेरी बुद्धि इस काव्यरूपी कृतिको केवल उत्पन्न करेगी । परन्तु उसका पालनपोषण दाईके समान कवीश्वरोंकी बुद्धि करेगी ।

सत्कवेरर्जुनस्येव शराः शब्दास्तु योजिताः ।

कर्णं दुस्संस्कृतं प्राप्य तुदन्ति हृदयं भृशम् ॥ ३४ ॥

अर्जुनके छोड़े हुए बाण जिस तरह दुस्संस्कृत अर्थात् दुस्सा-
नके वहकाये हुए कर्णके हृदयमें अतिशय पीड़ा उत्पन्न करते थे,
सी प्रकारसे सत्कविके योजित किये हुए शब्द दुस्संस्कृत अर्थात्
रे संस्कारोंवाले पुरुषोंके कानोंके समीप पहुंचकर उनके हृदयमें
प्रभते हैं—उन्हें बुरे लगते हैं ।

पुराणं मार्गमासाद्य जिनसेनानुगा ध्रुवम् ।

भवाब्धेः पारमिच्छन्ति पुराणस्य किमुच्यते ॥ ४० ॥

भगवान् जिनसेनके अनुयायी उनके पुराणके मार्गके आश्रयसे
नसाररूपी समुद्रके भी पार पहुंचनेकी इच्छा करते हैं, फिर मेरे लिये
इस पुराणसागरका पार करना क्या कठिन है ? अर्थात् यह तो सहज
ही पूरा हो जायगा ।

गुणभद्रस्वामीके वनाये हुए अभीतक तीन ग्रन्थ प्राप्य हैं, एक
आदिपुराणका शेषभाग तथा उत्तरपुराण, दूसरा आत्मानुशासन
और तीसरा जिनदत्त चरित्र । इनमेंसे आदिपुराणके शेष भागके
विषयमें तो ऊपर कहा जा चुका है । उत्तरपुराणका अभीतक मैंने
स्वाध्याय नहीं किया है । इसलिये उसकी विशेष आलोचना तो नहीं



रानी जैसे अपनी पुत्रीको केवल उत्पन्न करती है—पालती नहीं उसी प्रकारसे मेरी बुद्धि इस काव्यरूपी कृतिको केवल उत्पन्न की । परन्तु उसका पालनपोषण दाईके समान कवीश्वरोंकी बुद्धि करेगी ।

सत्कवेरर्जुनस्येव शराः शब्दास्तु योजिताः ।

कर्णं दुस्संस्कृतं प्राप्य तुदन्ति हृदयं भृशम् ॥ ३४ ॥

अर्जुनके छोड़े हुए बाण जिस तरह दुस्संस्कृत अर्थात् दुस्सानके वहकाये हुए कर्णके हृदयमें अतिशय पीड़ा उत्पन्न करते थे, वी प्रकारसे सत्कविके योजित किये हुए शब्द दुस्संस्कृत अर्थात् संस्कारोंवाले पुरुषोंके कानोंके समीप पहुंचकर उनके हृदयमें भते हैं—उन्हें बुरे लगते हैं ।

पुराणं मार्गमासाद्य जिनसेनानुगा ध्रुवम् ।

भवाब्धेः पारमिच्छन्ति पुराणस्य किमुच्यते ॥ ४० ॥

भगवान् जिनसेनके अनुयायी उनके पुराणके मार्गके आधरसे सागररूपी समुद्रके भी पार पहुंचनेकी इच्छा करते हैं, फिर मेरे लिये स पुराणसागरका पार करना क्या कठिन है ? अर्थात् यह तो सहज ही पूरा हो जायगा ।

शुणभद्रस्वामीके बनाये हुए अर्थात्क तीन ग्रन्थ प्राप्य हैं, एक आदिपुराणका शेषभाग तथा उत्तरपुराण, दूसरा आत्मानुशासन और तीसरा जिनदत्त चरित्र । इनमेंसे आदिपुराणके शेष भागके विषयमें तो ऊपर कहा जा चुका है । उत्तरपुराणका अर्थात्क मैंने स्थापना नहीं किया है । इसलिए उसकी विशेष आलोचना तो

' और उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें लोकसेनमुनिको विदितसकलशास्त्र, ग, कवि, अविकलवृत्त आदि विशेषण दिये गये हैं । इससे यह ना हो सकती है कि, उत्तरपुराण बननेके समय यदि लोकसेन 'देतसकलशास्त्र' थे, तो फिर उसके पश्चात् उन्हें संबोधनकी ही आवश्यकता नहीं थी, जितनी कि इस विशेषणके योग्य के पहिले थी । अतएव जबतक और कोई बाधक प्रमाण न मिले कि यह मान लेना कुछ अनुचित नहीं दिखता है कि, आत्मानुशासन-पुराणके पहिले बना है ।

आत्मानुशासन आत्माका शासन करनेके लिये—उसको वशी-करनेके लिये न्यायी शासकके समान है । अध्यात्मके प्रेमी के अध्ययनसे अभूतपूर्व शान्ति लाभ करते हैं । इसकी रचना-की भर्तृहरिके वैराग्यशतकके ढंगकी है और उसीके समान विशालिनी भी है । थोड़ेसे पद्य यहां उद्धृत कर दिये जाते हैं—

हे चन्द्रमः किमिति लाञ्छनवानभूस्त्वं

तद्दान् भवेः किमिति तन्मय एव नाभूः ।

किं ज्योत्स्नयामलमलं तव घोषयन्त्या

स्वर्भानुवन्ननु तथा सति नाऽसि लक्ष्यः ॥ २४१ ॥

अर्थात्—हे चन्द्रमा ! तू कालिमारूप थोड़ेसे कलंकसे युक्त गों हुआ ? यदि कलंकवान् ही होना था, तो सर्वथा कलंकमय ही गों न हुआ ? तेरी इस चांदनीसे जो कि तेरे कलंकको और भी

१. यह प्रन्थ भाषाटीका सहित छप चुका है । सनातनजैनप्रन्थमालाके प्रथम वृत्तमें मूलमात्र भी छपा है ।

जे जो कि सबसे अधिक विद्वान् समझे जाते थे, पास बुला-
या कि यह जो साम्हने सूखा वृक्ष खड़ा है, इसका काव्य-
वर्णन करो । तब उन दोनोंमेंसे पहिलेने कहा—

“ शुष्कं काष्ठं तिष्ठत्यग्रे । ”

दूसरेने कहा—

“ नीरसतरुरिह विलसति पुरतः । ”

इ दूसरा और कोई नहीं था, गुणभद्रस्वामी थे । इनके सरस
श्लोक सुनकर जिनसेनस्वामीने इन्हींको योग्य समझा और इन्हें ही
दी कि तुम शेष ग्रन्थको पूर्ण करना । ”

* * * * *

समकालीन राजाओंका परिचय ।

अमोघवर्ष ।

जिनसेन और गुणभद्रस्वामीके समयमें जितने राजा हो गये
उन सबमें महाराजा अमोघवर्ष जैनधर्मके परम श्रद्धालु सहायक
उन्नायक समझे जाते हैं । जिनसेनस्वामीके ये परम भक्त
जैसा कि गुणभद्रस्वामीने लिखा है:—

यस्य प्रांशुनखांशुजालविसरद्धारान्तराविर्भव-

त्पादाम्भोजरजःपिशङ्गमुकुटप्रत्यग्ररत्नच्युतिः ।

संस्मर्ता स्वममोघवर्षनृपतिः पूतोऽहमद्येत्यलं

स श्रीमान् जिनसेनपूज्यभगवत्पादो जगन्मङ्गलम् ॥ ८ ॥

इसका अभिप्राय यह है कि महाराजा अमोघवर्ष जिनसेनस्वामीके
पादमालोंमें मस्तकको रखकर आपको पवित्र मानते थे और

इसका उक्त स्मरण किया करते थे । अमोघवर्षकी उपाधि थी

अकालवर्ष—अमोघवर्षके पश्चात् उनका पुत्र अकालवर्ष जिसको के 'द्वितीयकृष्ण' भी कहते हैं, सार्वभौम सम्राट् हुआ था, जैसा कि द्वितीय कर्कराजके दानपत्रमें अमोघवर्षका वर्णन करनेके पश्चात् लिखा है:—

तस्मादकालवर्षोऽभूत्सार्वभौमक्षितीश्वरः ।

यत्प्रतापपरित्रस्तो व्योम्नि चन्द्रायते रविः ॥

परन्तु अकालवर्षका राज्यकाल शक ८११-८३३ तक निश्चित किया गया है। इससे मालूम होता है कि अमोघवर्ष और अकालवर्षके बीचमें १०-११ वर्ष तक किसी दूसरे राजाने राज्य किया है और वह बहुत करके अमोघवर्षका पितृव्य (काका) इन्द्रराज था, जैसा कि ध्रुवराजके दानपत्रके निम्नलिखित श्लोकसे विदित होता है—

राजाभूत्तत्पितृव्यो रिपुभवाविभवोद्भूत्यभावैकहेतु-

लक्ष्मीवानिन्द्रराजो गुणिनृपनिकरान्तश्चमत्कारकारी ।

रागादन्यान्व्युदस्य प्रगटितविपया यं नृपान्सेवमाना

राज्यश्रीरेव चक्रे सकलकविजनोद्गीततथ्यस्वभावम् ॥

शायद अमोघवर्षके राज्य त्याग करनेके समय अकालवर्ष बालक था, इस कारण राज्यका कार्य इन्द्रराज देखता होगा और इसीलिये अमोघवर्षके पश्चात् कहीं इन्द्रराजको और कहीं अकालवर्षको राजा माना है ।

अकालवर्ष भी अपने पिताके समान बड़ा भारी वीर और पराक्रमी

१. इन्द्रराजकी सन्तानने गुजरात देशमें राष्ट्रकूटवंशका एक शाखाराज्य स्थापित किया था ।

लोकादित्य जो कि वनवासदेशका राजा था और वंकापुरमें
नेसकी राजधानी थी, जैनधर्मका भक्त रहा है, ऐसा जान पड़ता
!। क्योंकि—

पञ्चालयमुकुलकुलप्रविकासकसत्प्रतापततमहासि ।

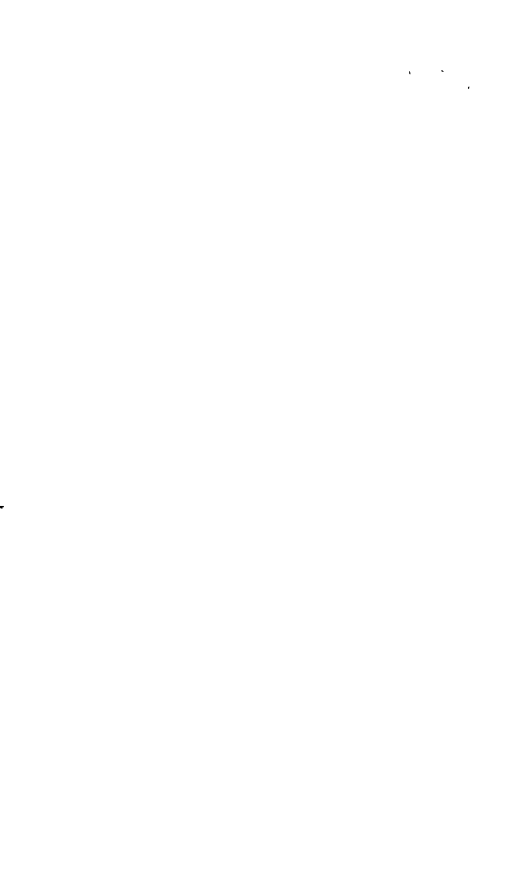
श्रीमति लोकादित्ये प्रध्वस्तप्रथितशत्रुसंतमसे ॥ २९ ॥

चेल्लपताके चेल्लध्वजानुजे चेल्लकेतनतनूजे ।

जैनेन्द्रधर्मवृद्धिविधायिनि स्वविधुवीध्रपृथुयशसि ॥ ३० ॥

इत्यादि श्लोकोंमें गुणभद्रस्वामीने लोकादित्यको “ जैनेन्द्र धर्म-
द्विविधायिनि ” विशेषण देकर कमसे कम इतना तो भी स्पष्ट कर
या है कि वह जैनधर्मका शुभचिन्तक तथा उसकी वृद्धि करने-
ला था ।

जिनसेनस्वामीका जन्म समय शक संवत् ६७९ और मृत्युसमय
क सं० ७७० निश्चित किया जा चुका है और उनके पश्चात्
गुणभद्रस्वामी निदान शक संवत् ८२० तक जीते रहे हैं । इस
बीचमें अर्थात् शक संवत् ६७९ से ८२० तकके समयमें राष्ट्रकूटवंशके
चार पांच राजा राज्य कर चुके हैं । जिनमेंसे तीनका समय तो
निश्चित है—श्रीवल्लभ शक संवत् ७०९ से ७३६ तक, अमोघवर्ष
७३६ से ७९९ तक और अकालवर्ष ८०० से ८३३ तक ।
श्रीवल्लभसे पहिले शुभतुंग, दन्तिदुर्ग आदि राजा हुए हैं, परन्तु
उनका निश्चित समय विदित नहीं है ।



सो राजधानी बनाई थी । उसी समय अर्थात् सन् १२४९ ई० सन् १२९३) में उसने अजमेरको अपने आधीन करके इसके लोगोंकी कत्ल कराई थी और इसी साल वह अपने एक सवारको हिन्दुस्थानका सारा कारभार सौंप करके गजनीको लौट या था । इसके पश्चात् सन् १२९४ और ९५ में हिन्दुस्थानपर उसकी छठी और सातवीं चढ़ाई और भी हुई थी । छठी चढ़ाईमें उसने कन्नोज फतह की थी । और सातवींमें दिल्ली, गवालियर, मुद्देलखंड, विहार, बंगाल, और गुजरात प्रदेश उसने अपने राज्यमें मिला लिये थे । फिर सन् १२०२ में वह ग्यासुद्दीनगोरीके परनेपर गजनीके तख्तपर बैठा था, और सन् १२०६ में सिंध नदीके किनारे उसे गक्कर जातिके जंगली लोगोंने मार डाला था । इससे मालूम पड़ता है: कि, शहाबुद्दीन गोरीने पृथ्वीराज चौहानसे दिल्लीका सिंहासन छीनते ही अजमेरपर धावा किया होगा । क्योंकि अजमेर पृथ्वीराजके ही अधिकारमें था और उसी समय अर्थात् सन् १२९३ ईस्वीमें सपादलक्षदेश शहाबुद्दीनके अत्याचारोंसे व्याप्त हो गया होगा । यही समय पंडितप्रवर आशाधरके मांडलगाढ़ छोड़कर धारा नगरीमें आनेका निश्चित होता है ।

मांडलगढ़से धारानगरीमें आ बसनेके पश्चात् पंडित आशाधरने एक महावीर नामके प्रसिद्ध पंडितसे जैनेन्द्रप्रमाण और जैनेन्द्रव्याकरण इन दो ग्रन्थोंका अध्ययन किया । आशाधरके गुरु पं० महावीर, वादिराज पंडित धरसेनके शिष्य थे । प्रसिद्ध विद्या-

भर्जुनवर्मा । ” अर्जुनवर्माके कोई पुत्र नहीं था । इसालय उसके पीछे अजयवर्माके भाई लक्ष्मीवर्माका पौत्र देवपाल (साह-समह) और देवपालके पीछे उसका पुत्र जैतुगिदेव (जयसिंह) राजा हुआ । आशाधर जिस समय धारामें आये, उस समय विन्ध्य-वर्माका राज्य था और वि० सं० १२९६ में जब उन्होंने सागार-वर्माभृतकी टीका बनाई, तब जैतुगिदेव राजा थे । अर्थात् वे अपने समयमें धाराके सिंहासनपर पांच राजाओंको देख चुके थे । केवल ९० वर्षके बीचमें पांच राजाओंका होना एक आश्चर्यकी बात है ! आशा-धरका विद्याभ्यास समाप्त होते होते उनके पाण्डित्यकी कीर्ति चारों ओर फैलने लगी । उनकी विलक्षण प्रतिभाने विद्वानोंको चकित स्तंभित कर दिया । विन्ध्यवर्माके सान्धिवैग्रहिक मंत्री (फारेन सेक्रेटरी) विल्हण नामके एक महाकवि थे । उन्होंने आशाधरकी विद्वत्तापर मोहित होकर एकवार निम्नलिखित श्लोक कहा था,—

“ आशाधर त्वं मयि विद्धि सिद्धं निसर्गसौन्दर्यमजर्यमार्यं ।
सरस्वतीपुत्रतया यदेतदर्थे परं वाच्यमयं प्रपञ्चः ॥ ”

जिसका आशय यह है कि “ हे आशाधर ! तथा हे आर्य ! तुम्हारे साथ मेरा स्वाभाविक सहोदरपना (भ्रातृत्व) और श्रेष्ठ मित्रपना है । क्योंकि जिस तरह तुम सरस्वतीके (शारदाके) पुत्र हो उसी तरह मैं भी हूँ । एक उदरसे पैदा होनेवालोंमें मित्रता और भाईपना होता ही है । ” इस श्लोकसे इस बातका भी पता लगता है



हैं; किसी दूसरे कविने उसकी रचना की है और यदि विल्हणने हो, तो वह विद्यापति विल्हणसे भिन्न होना चाहिये। परन्तु भिन्न कर भी वह विन्ध्यवर्माका मंत्री विल्हण नहीं हो सकता। क्योंकि क काव्यमें जिस वैरिसिंह राजाकी कन्या शशिकलाके साथ विल्हणका प्रेमसम्बन्ध होना वर्णित है, वह विक्रमसंवत् ९०० के लगभग हुआ है। इससे आशाधरके समयके साथ उसका भी ठीक ही बैठ सकता है।

शार्ङ्गधरपद्धति और सूक्तमुक्तावली आदि सुभाषित ग्रन्थोंमें विल्हण विल्हणके नामसे बहुतसे श्लोक ऐसे मिलते हैं, जो न तो विद्यापति विल्हणके विक्रमांकदेवचरित तथा कर्णसुन्दरी नाटिकामें हैं और न विल्हणचरितमें हैं। क्या आश्चर्य है, जो उनके बनानेवाले आशाधरकी प्रशंसा करनेवाले विल्हण ही हों।

आशाधरने अपनी प्रशंसा करनेवाले दो विद्वानोंके नाम और भी दिये हैं, जिनमेंसे एकका नाम उदयसेन और दूसरेका नाम मद-भीति है। ये दोनों ही दिगम्बर मुनि थे। क्योंकि इनके नामके साथ मुनि और यतिपति विशेषण लगे हुए हैं। देखिये, उदयसेन का कहते हैं:—

१. कर्णसुन्दरीनाटिकाके मंगलाचरणमें जिनदेवको नमस्कार किया गया है। इस कारण यह नहीं है कि विद्यापति विल्हण जैनी थे। किन्तु उक्त नाटिका गहिलपाटनके राजा कर्णके जैन मंत्री सम्पत्करके बनवाये हुए आदिनाथ जवानके यात्रामहोत्सवपर खेलनेके लिये बनाई गई थी, इसलिये उसमें जिनदेवको नमस्कार करना ही उन्होंने उचित समझा होगा। पीछेसे अपने इष्टदेव शिवजीको भी नमस्कार किया है।

ज्ञानकी शक्ति और परोपकारशीलता कैसी थी। गृहस्थ होनेपर भी बड़े २
मुनि उनके पास विद्याध्ययन करके अपनी विद्यातृष्णाको पूर्ण करते
थे। उस समयके इतिहासकी यह एक विलक्षण घटना है, जो
नीतिके इस वाक्यको स्मरण कराती है— “ गुणाः पूजास्थानं
गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः ” अर्थात्, गुणवानोंमें उनके
गुण ही पूजनेके योग्य होते हैं, उनकी उमर अथवा वेष नहीं।

विन्ध्यवर्माका और उनके पीछे उनके पुत्र सुभटवर्माका राज्यकाल
समाप्त हो चुकनेपर आशाधरने धारानगरीको छोड़ दी और नलक-
च्छपुरको अपना निवासस्थान बनाया। नलकच्छपुरमें आ रहनेका
कारण उन्होंने अपने प्यारे धर्मकी उन्नति करना बतलाया है,—

श्रीमदर्जुनभूपालराज्ये श्रावकसंकुले ।

जिनधर्मोदयार्थं यो नलकच्छपुरेऽवसत् ॥ ८ ॥

इससे यह भी अनुमान होता है कि वे धारासे अकेले आये
होंगे। गृहस्थाश्रमसे उन्होंने एक प्रकारसे सम्बन्ध छोड़
दिया होगा।

नलकच्छपुरको इस समय नालछा कहते हैं। यह स्थान धारासे
१० कोसकी दूरीपर है। सुना है, इस समय वहांपर जैनियोंके
थोड़ेसे घर और जैनमंदिर हैं। परन्तु आशाधरके समय वहांपर
जैनियोंकी बहुत बड़ी वस्ती थी। जैनधर्मका जोर शोर भी वहां
बहुत होगा। ऐसा हुए बिना आशाधर सरीखे विद्वान् धारा जैसी
महानगरीको छोड़कर वहां रहनेको नहीं जाते। अवश्य ही वहांपर
जैनधर्मकी उन्नति करनेके लिये धारासे अधिक साधन एकत्र होंगे

न्यवर्माका राज्य वि० सं० १२५७-५८ तक समझना चाहिये ।
न्यवर्माके पश्चात् सुभट्टवर्माके राज्यके कमसे कम ७ वर्ष माने
गिये, तो अर्जुनदेवके राज्यारंभका समय वि० सं० १२६५
मानना चाहिये । इसी १२६५ के लगभग आशाधर नालड्डेमें
जाये होंगे ।

पंडितप्रवर आशाधरकी मृत्यु कब हुई इसके जाननेका कोई उपा-
नहीं है । उनके बनाये हुए जो २ ग्रन्थ प्राप्य हैं, उनमेंसे अनगा-
धर्ममृतकी भन्यकुमुदचन्द्रिका टीका कार्तिक सुदी ५ सोमवार सं०
१३०० को पूर्ण हुई है । इसके पीछेका उनका कोई भी ग्रन्थ नहीं मि-
लता है । इस ग्रन्थके बनानेके समय हमारे खयालसे पंडितराजकी
आयु ६५-७० वर्षके लगभग होगी । क्योंकि उनका जन्म वि० सं०
१२३०-३५ के लगभग सिद्ध किया जा चुका है । इस ग्रन्थकी प्रश-
त्तिसे यह भी मालूम होता है कि वे उस समय नालड्डेमें ही थे ।
और शायद सं० १२६५ के पश्चात् उन्होंने कभी नालड्डा छोड़ा भी
ही । क्योंकि उनके १२६५ और १३०० के मध्यके जो दो ग्रन्थ
लिखे हैं, वे भी नालड्डेके बने हुए हैं । एक वि० सं० १२८५ का
और दूसरा १२९६ का । नालड्डेमें कविवर जैनधर्मका उद्योत करनेके
लिये आये थे, फिर क्या प्रतिज्ञा पूरी किये बिना ही चले जाते ?
उस समय तक वे नालड्डेमें ही रहे और वहीं उन्होंने अपने अपूर्व
ग्रन्थोंकी रचना करके जैनधर्मका मस्तक ऊंचा किया ।

वर्तमानमें पं० आशाधरके मुख्य तीन ग्रन्थ सुलभ हैं और प्रायः
त्येक भंडारमें मिल सकते हैं । एक जिनयज्ञकल्प, दूसरा सागारधर्मा-

अनेकार्हात्प्रतिष्ठान्तप्रतिष्ठैः केलहणादिभिः ।

सद्यः सूक्तानुरागेण पठित्वाऽयं प्रचारितः ॥ १८ ॥

प्रथमातिप्रसङ्गेन—

यावत्रिलोक्यां जिनमन्दिरार्चाः तिष्ठन्ति शक्रादिभिरर्च्यमानाः ।

तावज्जिनादिप्रतिमाप्रतिष्ठां शिवार्थिनोऽनेन विधापयन्तु ॥ १९ ॥

नन्द्याखाण्डिल्यवंशोत्थः केलहणो न्यासवित्तरः ।

लिखितं येन पाठार्थमस्य प्रथमपुस्तकम् ॥ २० ॥

इत्याशाधर विरचितो जिनयज्ञकल्पः ।

भावार्थ—प्राचीन प्रतिष्ठापाठोंको वर्जित करके और इंद्रसम्बन्धी व्यवहारको देखकर यह वर्तमान युगके अनुकूल ग्रंथ बनाया, जो कि आन्नायविच्छेदरूपी अंधकारको नाश करनेवाला है। खंडेलवाल वंशके भूषणरूप अल्हणके पुत्र, श्रावकधर्ममें लवलीन रहनेवाले, नलकच्छपुर-नेवासी, परोपकारी, देवपूजा, पात्रदान तथा जिनशासनका उद्योत करनेवाले और प्रतिष्ठाग्रणी पापासाधुने वारंवार अनुरोध करके यह ग्रंथ बनवाया। आसोज सुदी १५ वि० सं० १२८५ के दिन परमारकुलके मुकुट देवपाल उर्फ साहसमल्ल राजाके राज्यमें नलकच्छपुर नगरके नेमिनाथ चैत्यालयमें यह ग्रंथ समाप्त हुआ। अनेक जिनप्रतिष्ठा-क्षेत्रोंमें प्रतिष्ठा पाये हुए केलहण आदि विद्वानोंने नवीन सूक्तियोंके अनुरागसे इस ग्रन्थका प्रचार किया। जब तक तीन लोकमें जिनमंदिरोंकी पूजा इंद्रादि-कोंके द्वारा होती है, तब तक कल्याणकी इच्छा करनेवाले ग्रन्थसे जिनप्रतिमाओंकी प्रतिष्ठा करावें। खंडेलवालवंशमें



भावार्थ—मैंने (आशाधरने) सागारधर्माभृतकी यह सुन्दर टीका
 नहीं जिसके आठ अध्याय हैं । जत्र परमारवंशाशिरोमणि देवसेन रा-
 ण्णके पुत्र श्रीमान् जैतुगिदेव अपने खड्गके बलसे मालवाका शासन
 करते थे, तत्र नलकच्छपुरके नेमिनाथ चैत्यालयमें यह भव्यकुमुदच-
 द्रेका टीका पौषवदी ७ सं० १२९६ को पूर्ण हुई । यह श्रावक
 र्मदीपक ग्रन्थ पंडित आशाधरने बनाया और पोरवाड़वंशरूपी
 ण्णकाशके चन्द्रमा श्रीमान् समुद्धरश्रेष्ठीके पुत्रने महीचन्द्रकी प्रार्थनासे
 सकी पहिली पुस्तक लिखी । उस श्रेष्ठीपुत्रके पुण्यकी बढवारी हो ।
 न्तरंगके अंधकारको नष्ट करनेवाला जिनेन्द्रदेवका शासन जत्र तक
 हे और जबतक चन्द्रसूर्य लोगोंके नेत्रोंको आनन्दित करते रहें, तत्र
 क यह श्रावकधर्मका ज्ञान करानेवाली टीका भव्य जनोंके आगे धर्मा-
 ण्णोंके द्वारा निरन्तर पढ़ी जावे ।

सोऽहमाशाधरोऽकार्पं टीकामेतां मुनिप्रियाम् ।

स्वोपज्ञधर्माभृतोक्तयतिधर्मप्रकाशिनीम् ॥ २० ॥

शब्दे चार्ये च यत्किञ्चिदत्रास्ति स्वलितं मम ।

छद्मस्यभावात्संशोध्य सूरयस्तत्पठन्त्विमाम् ॥

नलकच्छपुरे पौरपौरस्त्यः परमार्हतः ।

जिनयज्ञगुणौचित्यकृपादानपरायणः ॥ २२ ॥

खंडिल्यान्वयकल्याणमाणिक्यं विनयादिमान् ।

साधुः पापाभिधः श्रीमानसीत्पापपराङ्मुखः ॥ २३ ॥

तत्पुत्रो बहुदेवोऽभूदाद्यः पितृभरक्षमः ।

द्वितीयः पद्मसिंहश्च पद्मालिंगितविग्रहः ॥ २४ ॥

श्रीकामहिन पृथक् प्रकाशित किया जाने,
 बन सकता है। और श्रावकधर्मका
 गान्धेको उपयोगी हो सकता है। यहापर
 हुए श्लोक उद्धृत करने ही उच्छा री
 विचार हो आदना पडा।

तीसरा ग्रन्थ श्रावकाचार इम समय
 है, परन्तु उमका विषय अतलानेको गदव
 १३६२ श्लोकोंमें बहुत उत्तमताके साथ
 लाया गया है। प्रचलित श्रावकाचारोंमे य

चौथा ग्रन्थ योगसारप्राभृत है। इस
 तरंगिणी भी है। इसमें २२० के करीब
 अजीव, आत्वव, बंध, मंवर, निर्जरा, मोद
 इस प्रकार नौ अध्याय हैं और प्रायः प्र
 श्लोक हैं। अन्तके दो अध्यायोंमें सौ सौके
 पय नामहीसे प्रगट है। योगियोंको उप
 स्थामें किस प्रकार चिन्तवन करना चाहिये,
 का उपदेश दिया गया है। जो प्रति हमारे
 १९९२ की लिखी हुई है और प्रायः ३
 ० - १२ श्लोक नहीं हैं। एक पत्रका अ





उत्पत्तिका वृत्तान्त भी हमको श्रीदेवसेनसूरिके दर्शनसार ग्रन्थसे
मालूम हुआ है । वह इस प्रकार है:—

सिरि वीरसेणसिस्सो जिणसेणो सयलसत्थविण्णाणी ।

सिरि पडमणांदि पच्छा चउसंघसमुद्धरणधीरो ॥ ३१ ॥

तस्य य सिस्सो गुणवं गुणभद्दो दिव्वणाणपरिपुण्णो ।

पक्खोववासमंडी महातवो भावलिगो य ॥ ३२ ॥

तेण पुणो विय मुच्चं णेऊण मुणिस्स विणयसेणस्स ।

सिद्धंतं घोसित्ता सयं गयं सगगल्लेयस्स ॥ ३३ ॥

आसी कुमारसेणो णांदियहे विणयसेण दिक्खयओ ।

सण्णासभंजणेण य अगहियपुणदिक्खओ जाओ ॥ ३४ ॥

परिवज्जऊण पिच्छं चमरं णेऊण मोहकलिदेण ।

उम्मगं संकलियं वागडविसएसु सव्वेसु ॥ ३५ ॥

इत्थीणं पुणदिक्खा ग्गुल्लयल्लेयस्स वीरचरियत्तं ।

कक्कसकेमगाहणं छट्ठं च गुणट्ठदं णाम ॥ ३६ ॥

आयमसत्थपुराणं पायच्छित्तं च अण्णहा किंपि ।

विरइत्ता मिच्छंतं पवट्ठियं मूढल्लेयेसु ॥ ३७ ॥

सो सवणसंघवज्जो कुमारसेणो हु समयमिच्छत्तो ।

चत्तोवसमो रद्धो कट्ठसंघं परूवेदि ॥ ३८ ॥

१. श्रीदेवसेनसूरिके दर्शनसार ग्रन्थ विक्रमसंवत् १०९ में धारा नगरीके पार्श्वनाथ मठालयमें बनाया था, ऐसा उसकी प्रशस्तिके विदित होता है ।
वाट्यासंघधी उत्पत्तिके केवल १५० वर्ष पीछे इस ग्रन्थकी रचना हुई थी।

वेगा नीरोग हेगये । उस समय उन्होंने कु
नपान ग्रहण करनेकी आज्ञा मागी, परन्तु दूसरे
हैं ऐसा करनेकी आज्ञा नहीं दी समाधिमरण कर
लाटे । लोहाचार्य श्रुतानुश्रुतको महन नहीं कर मवे
चार्यकी आज्ञा पावन करनेमें समर्थ न हुए । उन
ण कर लिया । इस अपराधमें वे मरने बाहर कर
के पट्टपर अन्य किसी आचार्यकी स्थापना हो गई ।
से निकलकर अगरोदा नगर पाये जहापर अगरव
की वस्ती थी । यद्यपि वे सब अन्यमतावलम्बी थे,
ों लोहाचार्यका बहुत बड़ा प्रभाव था इसलिये उन
कर अगरवालोंने भोजनके लिये प्रार्थना की । परन्तु
कि हम मिथ्यादृष्टियोंके घर आहार नहीं कर सकते हैं
जैनधर्म ग्रहण करना स्वीकार करो, तो हम भोजन
उनकी विद्वत्ता और तपस्याका अगरवालोंपर इतना
वे लोग जैनधर्मको ग्रहण करना अस्वीकार न कर स
० अगरवालोंने जैनधर्म स्वीकार कर लिया, और लो
उत्सवके साथ नगरमें ले जा कर भोजन कराया ।
मन्दिर बनवाया गया और तत्काल पाषाणकी प्रति

इसके लिये निर्दिष्ट किया। किन्तु अंगान्तर्गतमे यह भी नहीं माना। इसके सिवाय गायत्री, मूलका, पिच्छी, केनकी भी उन्होंने पद्यनि चन्द्रादी केर इन सबका प्रायश्चिन केनकी भी वे स्वीकृत न हुए। उन्होंने एक स्वतंत्ररूपमे अपने संघकी स्थापना की, जो कि पीछेसे काष्ठासंघके नाममे प्रख्यात हुआ। परन्तु इस कथामें जो अंगान्तर्गतके द्वारा इस संघकी स्थापना बतलाई गई है, उसपर विश्वास नहीं किया जा सकता है। यह भी खंडेलवालोंको जैन बनानेकी कथाके ममान ऐतिहासिक तत्त्वसे शून्य है। क्योंकि उमास्वामी विक्रमकी पहली शताब्दीमें हुए हैं, जिस समय कि दिगम्बर सम्प्रदायमें एक भी मतभेद नहीं हुआ था। उस समय काष्ठासंघका नाम भी नहीं था। विक्रमकी सातवीं शताब्दिके पहलेके किसी भी ग्रन्थमें काष्ठासंघका नाम नहीं मिलता है। इसके सिवाय श्रीदेवसेनसूरिने काष्ठासंघके केवल १५० वर्ष पीछे जो काष्ठासंघकी उत्पत्ति लिखी है, उसपर जितना विश्वास किया जा सकता है, उतना वचनकोशके कथनपर नहीं हो सकता है। देवसेनसूरिका वर्णन विशेष विश्वम्भ होनेका एक कारण यह भी है कि उन्होंने कुमारसेनका समय और उसकी गुरुपरम्परा विलकुल ठीक २ बतलाई है। अन्य ग्रन्थोंके द्वारा भी जिनसेनादिका समय उनके कथनसे बराबर मिलता है। वचनकोशके कर्त्ताने काष्ठासंघके उत्पादक बतलाये तो अंगान्तर्गतके हैं; परन्तु उनका समय वही विक्रम संवत् ७५३ लिखा है जो कि अंगान्तर्गतके समयसे किसी भी प्रकार नहीं मिल सकता है। इससे भी वचनकोशकी कथा किसी किंवदन्तीके अन्तर्गतमें लिखी हुई जान पड़ती

इस लिये हमें काष्ठासंघके जैनाभाव कठना कुछ कटपटा सम्भूय
 हुआ है और दर्शनकार जैसे प्रासायिक ग्रन्थका प्रमाण पाकर भी
 जो कुछ ग्रन्थोंमें श्रद्धा नष्टसे सम्बन्ध विद्यमान है। किन्तुनामै प्रायःना
 वि. ये इस विषयका सर्वाधिकारण करके समाजका उपकार करें।

अर्थात्क हमारे यहां अनेक पुराण ग्रन्थ काष्ठासंघके ही प्रचलित
 की रहे हैं, और समाजका बहुत बड़ा भाग इन्हीं ग्रन्थोंकी कथाओंपर
 बलवानकरनेवाला है। इसके सिवाय अमितगतिश्रावकाचारादि अन्यान्य
 ग्रन्थ भी काष्ठासंघ और माथुरसंघके प्रचलित हैं, जिन्हें लोग सब प्रकार
 से प्रमाण मानते हैं। कोई नहीं कहता है कि ये सब ग्रन्थ जैनाभा-
 वोंके बनाये हुए हैं। इससे यह जान पड़ता है कि काष्ठासंघ और
 मूलसंघमें पहले पहल लगभग विक्रमकी दशवीं शताब्दीमें जो विरोध
 हुआ, वह आगे वृद्धिगत नहीं हुआ—धीरे २ घटता गया और इस
 समय तो उसका प्रायः नामशेष ही हो चुका है। इस समय तेरह
 और बीसपंधमें जितना विरोध दिखलाई देता है, हमारी समझमें का-
 ष्ठासंघ और मूलसंघमें उतना भी विरोध नहीं रहा है और यदि
 दोनों संघके अनुयायियोंने बुद्धिमत्तासे काम लिया तो आगे सदाके
 लिये इस विरोधका अभाव हो जावेगा।

इस समय काष्ठासंघके अनुगामियोंको पृथक् छांटना भी कठिन हो
 गया है। अग्रवाल नरसिंहपुरा मेवाड़ा आदि थोड़ीसी जातियां इस
 संघकी अनुगामिनी हैं, और उनके भट्टारकोंकी गद्दी दिल्ली, मल-
 खेड़, कारंजा, आदि स्थानोंमें है। परन्तु श्रावकोंमें अक्षतके पहले

श्रीवादिराजसूरि ।

जिनयोंमें ऐसे बहुत कम लोग होंगे जिन्होंने सुप्रसिद्ध एकी-
भावस्तोत्रके कर्ता वादिराजसूरिका नाम न सुना हो । परन्तु ऐसे
लोग शायद दो चार ही कठिनाईसे मिलेंगे जिन्हें यह मालूम हो
कि वादिराज कौन थे, कब हुए हैं और उनकी कौन कौनसी रचना-
ओंसे जैनसमाज उपकृत हुआ है । हम अपने पाठकोंको इस लेखके
द्वारा आज इसी महानुभावका थोड़ासा परिचय देना चाहते हैं ।

वादिराजसूरि नन्दिसंघके अचार्य थे । उनकी शाखा या अन्वयका
नाम अरुङ्गल था । परन्तु यह नन्दिसंघ वह नन्दिसंघ नहीं
है जिसकी गणना चार संघोंमें की जाती है, किन्तु द्रमिल या द्राविड़
संघका एक गच्छ वा भेद है । पाठकोंको मालूम होगा कि इस
द्राविड़संघके स्थापक पूज्यपादस्वामीके शिष्य वज्रनन्दी हैं । इस-
की गणना पांच जैनाभासोंमें की जाती है । द्रविड़ देशमें होने-
के कारण इसका नाम द्राविड़ संघ पड़ा है । वे संभवतः द्राक्षिणात्य
थे । षट्त्तर्कपम्पुखरं, स्याद्वादविद्यापति, जगदेकमल्लवादी आदि उन-
की उपाधियां थीं । वे सिंहपुरनिवासी त्रैविद्यविद्येश्वर श्रीपालदेव-

१—श्रीमद्रमिलसंघेऽस्मिन्नन्दिसंघेऽस्त्यरुङ्गलः ।

अन्वयो भाति दोऽशेषशास्त्रवाराक्षिपारगः ॥

(Vide Ins. No 39, nagar Faluly Mr. Rice)

२—षट्त्तर्कपम्पुखरं स्याद्वादविद्यापतिगुणं जगदेकमल्लवादीगुणं एनिसिद्ध
श्रीवादिराजदेवस्म ।

(Vide No. 36 Idid.)

(१४५)

संकेतके दरवारमें जब इस बातका जिक्र छिड़ा तब वहां बैठे हुए किसी श्रावकने—जो कि वादिराजका भक्त था—पूछनेपर गुरुनिन्दाके भयमें यह कह दिया कि—नहीं मेरे गुरु वादिराज कोढ़ी नहीं हैं । इसपर बड़ी निहाई हुई । आखिर यह ठहरा कि महाराज कल स्वयं चलकर वादिराजको देखेंगे । श्रावक महाशय उस समय कहते तो कह गये पर पीछे बड़ी चिन्तामें पड़े । और कोई उपाय न देख गुरुके पास जाकर उन्होंने अपनी भूल निवेदन की और कहा अब लज्जा रखना आपके हाथ है । कहते हैं कि उसी समय वादिराज-सूरिने एकीभावस्तोत्रकी रचना की और उसके प्रभावसे उनका कुष्ठरोग दूर हो गया । एकीभावका चौथा श्लोक यह है,—

प्रागेवेह त्रिदिवभवनोदेप्यता भव्यपुण्या—
तृथ्वीचक्रं कनकमयतां देव निन्ये त्वयेदम् ।
ध्यानद्वारं मम रुचिकरं स्वान्तगेहं प्रविष्ट—
स्तत्किं चित्रं जिन वपुरिदं यत्सुवर्णीकरोपि ॥ ४
अर्थात्—हे भगवन् : स्वर्ग लोकसे माताके गर्भमें आनेके महीने पहलेहीसे जब आपने पृथ्वीको सुवर्णमयी कर ध्यानके द्वारसे मेरे सुन्दर अन्तर्गृहमें प्रवेश कर चुकने आप मेरे इस शरीरको सुवर्णमय कर दें तो क्या आश्चर्य वादिराजसूरिकी इस प्रार्थनासे अनुमान किया जाता है मेरे शरीरमें कुछ विकार हो गया था और वे

श्लोकका भी इसीसे

संख्यः गिहसमन्व्यपीठविभवः गर्वप्रवादिप्रजा-
देत्तांघर्जयकारमारमदिमा श्रीवादिराजं विदाम् ॥२॥

यद्यप्य गुणगान्तरोऽयं वचनविद्यासप्रसरः कवीनाम्—

श्रीमर्षालुख्यचक्रेद्यरजयकटके वाग्वधुजन्मभूमौ
निष्काण्डं डिण्डिमः पर्यटति पट्टरटो वादिराजस्य जिष्णोः ।

जगुच्चद्राददर्पो जहिहि गमकता गर्वभूमा जहारि
व्याहारेर्यो जहारि स्फुटमृदुमधुरश्रव्यकाव्यावलेपः ॥ ३ ॥

पाताले व्यालराजो वसति सुविदितं यस्य जिह्वासहस्रं
निर्गन्ता स्वर्गतोऽसौ न भवति धिपणोवज्रभ्रद्यस्य शिष्यः ।

जीवेतां तावदेतौ निलयवलवशाद्वादिनः केऽत्रनान्ये
शर्वं निर्मुच्य सर्वं जयिनमिनसभे वादिराजं नमन्ति ॥४॥

वाग्देवीसुचिरप्रयोगसुदृढप्रेमाणमप्यादरा—

दादत्ते मम पार्श्वतोऽयमधुना श्रीवादिराजो मुनिः ।

भोः भोः पश्यत पश्यतैष यमिनां किं धर्म इत्युच्चकै—

रब्रह्मण्यपराः पुरातनमुनेर्वाग्वृत्तयः पान्तु वः ॥ ५ ॥

भावार्थ—त्रैलोक्यदीपिका (त्रैलोक्यको प्रकाशित करनेवाली)

वाणी वा तो जिनराजके मुखसे निर्गत हुई या वादिराजसूरिसे ।

वादिराजकी महत्त्वसामग्री राजाओंके समान थी । चन्द्रमाके समान

उज्ज्वल यशका छत्र था, वाणीरूपी चँवर उनके कानोंके समीप-

दुरते थे, सब उनकी सेवा करते थे, उनका सिंहासन जयसिंहनरेश-

से वा पुरुषसिंहोंसे अर्चित था और सारी प्रवादी प्रंजों उच्चस्वरसे

उनका जयजयकार करती थी । उनके गुणोंकी प्रशंसा कवियों-

करना चाहते थे और वह विकार जैसा कि उक्त कथामें कहा गया है—कुष्ठरोग था ।

दूसरे दिन महाराजने जाकर देखा तो वादिराजसूरिका दिव्य शरीर था—उनके शरीरमें किसी व्याधिका कोई चिन्ह नहीं दिसता देता था । यह देखकर उन्होंने उस पुरुषकी ओर कोपमयी दृष्टि देखा जिसने कि दरबारमें इस बातका जिकर किया था । मुनिराज राजाकी दृष्टिका अभिप्राय समझकर थोले—राजन्, इस पुरुषपर कोप करनेकी आवश्यकता नहीं है । वास्तवमें उसने सच कहा था—सचमुच ही कोढ़ी था और उसका चिन्ह अभी तक मेरी इस कनिष्ठिका (अंगुली) में मौजूद है । धर्मके प्रभावसे मेरा कुष्ठ आज ही दूर हुआ है । इत्यादि । यह सुनकर महाराजको बड़ा आश्चर्य हुआ । मुनिराजपर उनकी बड़ी भक्ति हो गई । मल्लियेणप्रशस्तिक ' सिंहममर्च्यपीठविभवः ' विशेषण इसी बातको पुष्ट करता है । ऐसे प्रभावशाली महात्माकी जयसिंहनेरेश अवश्य ही भक्ति करते होंगे ।

वादिराजसूरि कैसे दिग्गज विद्वान् थे, इस बातका अनुमान पाठक नीचे लिखे हुए पद्योंसे करेंगे । ये पद्य श्रवणनेलगुल्लके ' मल्लियेणप्रशस्ति ' नामक शिलालेखमें खुदे हुए हैंः—

त्रैलोक्यदीपिका वाणी द्वाभ्यामेवोदगादिह ।

जिनराजत एकस्मादेकस्माद्वादिराजतः ॥ १ ॥

आरुद्धाम्बरमिन्दुविम्बरचितौत्सुक्यं सदा यद्यश-

श्छत्रं वाक्चमरीज—राजिरुचयोऽभ्यर्णं च यत्कर्णयोः ।

सेव्यः सिंहसमर्च्यपीठविभवः सर्वप्रवादिप्रजा-
 देतौ चैर्जयकारसारमहिमा श्रीवादिराजो विदाम् ॥२॥
 यद्वेद्य गुणगोचरोऽयं वचनविलासप्रसरः कवीनाम्—
 श्रीमच्चौलुक्यचक्रेश्वरजयकटके वाग्वधूजन्मभूमौ
 निष्काण्डं डिण्डिमः पर्यटति पटुरटो वादिराजस्य जिष्णोः ।
 जघुघद्वाददर्पो जहिहि गमकता गर्वभूमा जहारि
 व्याहारेष्यो जहारि स्फुटमृदुमधुरश्रव्यकाव्यावलेपः ॥ ३ ॥
 पाताले व्यालराजो वसति सुविदितं यस्य जिह्वासहस्रं
 निर्गन्ता स्वर्गतोऽसौ न भवति धिषणोवज्रभ्रद्यस्य शिष्यः ।
 जीवेतां तावदेतौ निलयवलवशाद्वादिनः केऽत्रनान्ये
 गर्वं निर्मुच्य सर्वे जयिनमिनसभे वादिराजं नमन्ति ॥४॥
 वाग्देवीसुचिरप्रयोगसुदृढप्रेमाणमप्यादरा—
 दादत्ते मम पार्श्वतोऽयमधुना श्रीवादिराजो मुनिः ।
 भोः भोः पश्यत पश्यतैष यमिनां किं धर्म इत्युच्चकै-
 रब्रह्मण्यपराः पुरातनमुनेर्वाग्वृत्तयः पान्तु वः ॥ ५ ॥

भावार्थ—त्रैलोक्यदीपिका (त्रैलोक्यको प्रकाशित करनेवाली)
 कर्मी या तो जिनराजके मुखसे निर्गत हुई या वादिराजसूरिसे ।
 वादिराजकी महत्त्वसामग्री राजाओंके समान थी । चन्द्रमाके समान
 उज्ज्वल चशका छत्र था, वाणीरूपी चँवर के कानोंके समीप-
 दुते थे, सब उनकी सेवा करते थे, उनके हृदयद्रावक है ।
 ते वा पुत्रसिंहोंसे अर्धित था और सारी इन्हें । इसमें केन्द्रसे
 उनका जयजयकार करती थी । उनके कवि

पद्य हैं और उनमें यशोधर महाराजकी संक्षिप्त कथा कही गयी है। इस काव्यको तंजौरके श्रीयुत टी. एस. कृष्णस्वामी शास्त्रीने हाल ही छपाकर प्रकाशित किया है। वादिराजसूरिकी रचना बड़ी खूबी है कि वह सरल होनेपर भी कोमल मधुर और मरिणी है। हमारी इच्छा थी कि उनके ग्रन्थोंके कुछ पद्य यहां प्रकाश करके पाठकोंको उनकी खूबी दिखलावें; परन्तु स्थानाभावसे हम ऐसा नहीं कर सके। अस्तु। तीसरा ग्रन्थ पार्श्वनाथचरित है। उसके हमने दर्शनमात्र किये हैं; पर उसे पढ़ नहीं सके। हमारे पास पं० उदयलालजी काशलीवालके पास वह है। उन्होंने हमसे कवित्वकी बहुत ही प्रशंसा की है। चौथा ग्रन्थ काकुत्स्थचरित यशोधरचरितमें इस ग्रन्थका उल्लेख तो मिलता है; परन्तु तत् करनेपर भी इसका कहीं पता नहीं लगा।

श्रीपार्श्वनाथ—काकुत्स्थचरितं येन कीर्तितम् ।

तेन श्रीवादिराजेन दृष्ट्वा याशोधरी कथा ॥५॥ स

इन चार ग्रन्थोंके सिवा मल्लिषेणप्रशस्तिका जो 'त्रैलोक्यपिका वाणी' आदि श्लोक है उससे मालूम होता है कि वादिराजकी कोई 'त्रैलोक्यदीपिका' नामका ग्रन्थ भी है।

१. अर्थात् जिसने पार्श्वनाथचरित और काकुत्स्थचरितकी रचना की, वादिराजने यह यशोधरचरित बनाया। काकुत्स्थ नाम रामचन्द्रका है, अतः इस ग्रन्थमें उन्हींका चरित होगा।

वादिराजसूरि केवल कवि ही नहीं थे । वे न्यायादि शास्त्रोंके भी साधारण विद्वान् थे । तत्र अवश्य ही उनके बनाये हुए न्याय व्याकरणदि विषयक ग्रन्थ भी होंगे । परन्तु कालके कुटिलचक्रमें पड़कर उनका दर्शन दुर्लभ हो गया है । एक सूचीपत्रमें वादिराजके कर्माणियशोविजय, वादमंजरी, धर्मरत्नाकर, और अकलंकाष्टकटीका न तीन ग्रन्थोंके नाम और भी मिलते हैं; परन्तु वादिराजनामके और भी कई विद्वान् हो गये हैं, इसलिये निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे इन्हीं वादिराजके हैं अथवा किसी अन्यके ।

वादिराजसूरिका पार्श्वनाथचरित शक संवत् ९४८ में बना है, पूर्वमें कहा जा चुका है; परन्तु शेष ग्रन्थ कब बने—प्रशस्तियोंके भावसे इस बातका पता नहीं लगता । यशोधरचरितके विषयमें ना कहा जा सकता है कि वह जयसिंह महाराजके ही राज्यकालमें है । क्योंकि उसके तीसरे सर्गके अन्त्यश्लोकमें और चौथे सर्गके अन्त्य श्लोकमें कविने चतुराईसे जयसिंहका नाम योजित कर र्हा है—

व्यातन्वज्जयसिंहतां रणमुखे दीर्घं दर्शो धारिणीम् ॥ ८५”

रणमुखजयसिंहो राज्यलक्ष्मीं वभार ॥ ७३ ”

श्रीवादिराजसूरिका निवासस्थान कहां था, उन्होंने कब दीक्षा ली और कब तक इस धराधामको अपनी पुण्यमूर्तिसे मुशोभित किया यह जाननेका कोई साधन प्राप्त नहीं होनेमें खेद है कि इन ग्रंथोंमें हम कुछ नहीं लिख सके ।

श्रीवादिराजसूरिके समकालीन कई बड़े २ विद्वान हो गये हैं। श्रीविजयभट्टारककी—जिनका कि दूसरा नाम पण्डितपारिजात था, स्वयं वादिराजसूरिने एक पद्यमें स्तुति की है। वह पद्य यह है—

यद्विद्यातपसोः प्रशस्तमुभयं श्रीहेमसेने मुनी
 प्रागासीत्सुचिराभियोगव्रलतो नीतं परामुन्नतिम् ।
 प्रायः श्रीविजये तदेतदखिलं तत्पीठिकायां स्थिते
 संक्रान्तं कथमन्यथानतिचिराद्विद्येदृगीदृक्तपः ॥

ये विजयभट्टारक हेमसेन मुनिके पदपर बैठे थे । इनकी प्रशंसाका एक श्लोक मल्लिषेणप्रशस्तिमें भी मिलता है । इस श्लोकसे यह भी मालूम होता है कि उस समयके कोई गंगवंशी नरेश उनके भक्त थे:—

गङ्गावनीश्वरशिरोमणिवन्धसन्ध्या-
 रागोल्लसच्चरणचारुनखेन्दुलक्ष्मीः ।
 श्रीशब्दपूर्वविजयान्तविनूतनामा
 धीमानमानुपगुणोऽस्ततमःप्रमांशुः ॥

बहुत करके ये गंगवंशीनरेश चामुंडराय महाराज होंगे । क्योंकि चामुंडरायका समय शककी दशवीं शताब्दी ही है । उनका शक संवत् ९०० में हुआ था । यद्यपि वे महाराज राजमल्लके भ्राता या सेनापति थे तो भी राजा कहलाते थे । वे जैनधर्मके परम भक्त थे, यह तो प्रसिद्ध ही है ।

गद्यचिन्तामणि और क्षत्रचूडामणि वाच्यकं कर्ता वादीभसिंहके
 चागुरु पुष्पसेन भी वादिराजके समकालीन थे ।

महाकवि मल्लिषेण (उभयभाषाकाविचक्रवर्ती) जिन्होंने कि
 क संवत् ९६९ में महापुराणकी रचना की है लगभग इसी समयके
 अथर्वकर्ता हैं ।

दयापाठ मुनि जो कि वादिराजके मतीर्थ थे बड़े भारी विद्वान्
 । मल्लिषेणप्रशस्तिमें उनकी प्रशंसाके कई पद्य हैं । स्थानाभावसे
 मैं उन्हें उद्धृत नहीं कर सके । नेमिचन्द्रसिद्धान्त चक्रवर्ती
 और कनड़ीके रत्न अभिनवपम्प नयसेन आदि प्रसिद्ध कवि भी
 लगभग इसी समय हुए हैं । शककी इस दशवीं शताब्दीने जैनि-
 योंमें वीसों विद्वद्गण उत्पन्न किये थे ।

नोट—इस लेखके लिखनेमें हमें यशोधरचरितकी भूमिकासे
 और सोलंकीयोंके इतिहाससे बहुत सहायता मिली है। अतएव हम
 दोनों ग्रन्थोंके लेखकोंका हृदयसे उपकार मानते हैं ।

१. श्रांयुक्त टी. एस्. कुप्पूस्वामी शास्त्रीने यशोधरचरितकी भूमिकामें
 लिखा है कि वादीभसिंहका वास्तविक नाम अजितसेन मुनि था । वादीभसिंह
 उनका एक विशेषण या पदवी थी । यथा मल्लिषेणप्रशस्तौ—

सकलभुवनपालानम्रमूर्ध्नावयद्धस्फुरितमुकुटचूडालीढपादारविन्दः ।

मदवदखिलवादीभेन्द्रकुम्भप्रभेदी गणभृदजितसेनो भाति वादीभसिंहः ॥

२. पुष्पसेनमुनि वादिराजके समकालीन होनेसे वादाभसिंहका समय भी एक
 प्रकारसे निश्चित हो जाता है जो कि पहले अनुमानोंसे सिद्ध किया जाता था ।

(१५५)

आदित्समाप्तं तु पुराणं दुरितापहम् ।
योगादाचन्द्रतारार्कं विदग्धजनचेतसि ॥
श्रीजिनसेनसूरितनुजेन कुदृष्टिमत्प्रभेदिना
गारुडमंत्रवादसकलागमलक्षणतर्कवेदिना ॥
तेन महापुराणमुदितं भुवनत्रयवर्तिकीर्तिना ।
प्राकृतसंस्कृतोभयकवित्वधृता कविचक्रवर्तिना ॥
इन श्लोकोंसे मालूम होता है कि महाकवि मल्लिषेण संस्कृत
र प्राकृत दोनों भाषाओंके महाकवि थे—कवियोंके चक्रवर्ती थे,
याकरण, न्याय, आगम, गारुड मंत्रवाद आदि सब विषयोंके ज्ञाता
थे; बड़े २ मिथ्यादृष्टियोंको उन्होंने पराजित किया था और सब
ओर उनकी कीर्ति फैल रही थी। शक संवत् ९६९ की ज्येष्ठ
सुदी ९ को उन्होंने मूलगुंद नामक तीर्थके जिनमन्दिरमें अथवा
वसतिकामें महापुराणको समाप्त किया था। यह मूलगुंद नामका
ग्राम अत्र भी है और धारवाड़ जिलेके गदग तालुकामें उसकी
णना की जाती है। पहले शायद यह स्थान बहुत प्रसिद्ध
रहा होगा, परन्तु अब नहीं है। उन्होंने आपको श्रीजिनसेनसू-
रिका पुत्र बतलाया है। इससे जान पड़ता है कि गृहस्थजीवनमें
, जो इनके पिता होंगे, पीछेसे उन्होंने दीक्षा ले ली होगी और मुनि
जीवनमें उनका नाम जिनसेन रक्खा गया होगा। जिनसेन नाम
भी कई आचार्य हो गये हैं, इससे यह पता लगाना कठिन है।
इनके पिता कौन थे। आदिपुराणके कर्ता भगवत्पुत्र
संवत् ७६९ तकका निश्चय हो चुका है।

(१५७)

कुमारकाव्य एक छोटासा पंचसर्गात्मक काव्य है और श्लोकोंमें पूर्ण हो गया है। यद्यपि इस ग्रन्थमें कर्त्ताने अपनी नहीं दी है और प्रारंभमें एक जगह अपने मल्लिषेण नामके य कुछ भी नहीं लिखा है। तो भी प्रत्येक सर्गके अन्तमें इत्युः भाषाकविचक्रवर्तिश्रीमल्लिषेणसूरिविरचितायां श्रीनागकुमा- श्वमीकथायां इत्यादि लिखा हुआ है, जिससे जान पड़ता है कि हापुराणके कर्त्ता मल्लिषेणने ही इसकी रचना की है। इस काव्यके प्रारंभमें लिखा है कि—

कविभिर्जयदेवाद्यैर्गद्यैः पद्यैर्विनिर्मितम् ।
यत्तदेवास्ति चेदत्र विषमं मन्दमेधसाम् ॥
प्रसिद्धसंस्कृतैर्वाक्यैर्विद्वज्जनमनोहरम् ।
तन्मया पद्यबन्धेन मल्लिषेणेन रच्यते ॥

इससे मालूम होता है कि, मल्लिषेणके पहिले जयदेव आदि कई कवियोंके बनाये हुए गद्य और पद्यमय नागकुमार थे, परन्तु वे कठिन थे इसलिये मल्लिषेणने इसे सरल और प्रसिद्ध संस्कृतमें बनाना उचित समझा। वास्तवमें यह काव्य बहुत सरल है और साधारण संस्कृत पढ़े हुए इसे सहज ही समझ सकते हैं।

सज्जनचित्तबल्लभ केवल २५ शार्दूलविक्रीडित श्लोक छोटासा काव्य है। इसमें मुनियोंको बहुत ही प्रभावशाली श्लोक उपदेश दिया है कि तुम अपने चरित्रको निर्मल रखो, ग्रामके

१. बाहूबलिनामके कविने इस काव्यका अनुवाद कनड़ी भाषामें १५०७ में किया है।

स्वामिसमन्तभद्राचार्य ।

सरस्वतीस्वैरविहारभूमयः समन्तभद्रप्रमुखा मुनीश्वराः ।

जयन्तु वाग्वज्रनिपातपातीप्रतीपराद्धान्तमहीध्रकोटयः ॥

—श्रीवादीभसिंह ।

भगवान् समन्तभद्र विक्रमकी दूसरी शताब्दीके लगभग हो गये हैं । इनके समान स्याद्वाद नयके पारगामी आचार्य बहुत ही थोड़े हुए हैं ।

इनके समयके विषयमें बहुत मतभेद है । अभी तक कोई प्रमाण ऐसा नहीं मिला है जिसे निश्चय पूर्वक कहा जा सके कि वे कब हुए हैं । महामहोपाध्याय पं० सतीशचन्द्र विद्याभूषण एम. ए. ने इनका समय ईस्वी सन् ६०० निश्चय किया है । परन्तु किन प्रमाणोंसे उन्होंने यह स्थिर किया है, जब तक यह मालूम न हो, तब तक हम जैनियोंकी पट्टावली आदिके अनुसार इन्हें विक्रमकी दूसरी शताब्दीका ही मानते हैं ।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके पट्टपर प्रभाचन्द्र नामके एक आचार्य हो गये हैं । उन्होंने प्राकृत भाषामें समन्तभद्राचार्यका एक चरित्र-ग्रन्थ लिखा है । वह ग्रन्थ वर्तमानमें अप्राप्य हो गया है; परन्तु उसका सारांश मल्लिपेण भट्टारकके शिष्य श्रीनेमिदत्त ब्रह्मचारीके बनाये हुए आराधनासार कथाकोषमें मिलता है । पहले हम उसका चरित्रात्मक अंश ही यहांपर प्रगट करते हैं:—

स्वामि समन्तभद्र धर्मूर प्रान्तस्थ कांचीनगरीके रहनेवाले
 उस समय कांचीदेशमें जैनधर्मका बहुत अच्छा प्रचार था ।
 बड़े २ विद्वान् और नपस्वी ऋषिमुनि विहार किया करते थे ।
 समय तब वहां बौद्धधर्मका प्रवेश नहीं हुआ था । क्योंकि
 उल्लेख मिलता है कि ईसाकी तीसरी शताब्दिमें बौद्धभिक्षुक
 देशमें आये थे । परन्तु अन्य प्रान्तोंमें बौद्धधर्मका स्वामि प्रचार
 रहा था । उस प्रान्तमें ईसाकी तीसरी सदीमें लेकर जबतक भग
 अकलंकदेवने अवतार लेकर जैनधर्मकी किम्मे विजय हुंहुभी
 बनाई, तबतक बौद्धधर्म बराबर रहा है । अस्तु ।

स्वामीने गृहस्थधर्म धारण करके पीछे दीक्षा ली अथवा वा
 वस्थाम ही दीक्षा ले ली, चरित्रमें इस बातका कुछ भी उल्लेख
 मिलता है । तो भी उनके सम्पूर्ण विषयोंके आश्चर्यकारक पांडित्य
 विचार करनेसे यह कहा जा सकता है कि उन्हें शिक्षा बाल्यक
 ही मिली होगी । दीक्षा लेनेके पश्चात् स्वामीने कांचीदेशमें वि
 करके जैनधर्मका बड़ा भारी उद्योग किया । परन्तु उसी समय
 ' भस्मक व्याधि ' नामका रोग हो गया । जिससे कि चाहे जि
 खाया पिया जाय, सब भस्म हो जाता है और भूखकी वेदना ब
 बनी रहती है । इसके कारण मुनिधर्मका पालन करना असंभव
 गया । लाचार स्वामीको उस समय अपने चारित्र मार्गसे च्युत
 जाना पड़ा । भूख शांत करनेके लिये उन्होंने यतिवेष त्याग
 और साधारण साधुका वेष धारण करके कांचीदेशसे व
 चल दिया ।

उत्तरकी ओर जाते जाते मार्गमें उन्हें पौंद्रपुर मिला । उक्त नगरमें एक बड़ी भारी दानशाला थी और उसमें बुद्ध भिक्षुकोंकी इच्छानुसार भोजन मिलता था । यह देखकर स्वामीने बौद्ध साधुका वेष धारण कर लिया और कुछ दिनों वहीं निवास किया । परन्तु भरपेट भोजन न मिलनेसे वहांसे चल दिया ।

फिर विहार करते करते वे दशपुर नगरमें पहुंचे । परन्तु वहांपर वैदिक धर्मकी प्रबलता थी, इसलिये बौद्धवेप छोड़कर स्वामीजी भागवतधर्मीय साधु बन गये । परन्तु वहां भी जो सदावर्तसे भोजन मिलता था, उससे उनके रोगकी शान्ति नहीं हुई, इसलिये दशपुरसे विदा लेनी पड़ी । वहांसे चलकर स्वामीजी वाराणसीमें पहुंचे । उस समय वहां शिवकोटि नामका राजा राज्य करता था । वह बड़ा भारी शिवभक्त था । उसने शिवजीका एक सुविशाल मन्दिर बनवाया था और उसकी पूजा वह शैव ब्राह्मणोंसे पट्टरस पक्वान्तके विपुल नैवेद्यसे करवाता था । उस नैवेद्यका ठाटवाट देखकर स्वामीजी तत्काल ही शैवऋषि बन गये । मस्तकपर जटा बद्ध लिये, कमंडलु रुद्राक्षकी माला आदि उपकरण ले लिये और एक लम्बा चौड़ा त्रिपुंड

१. प्रो० लॅसन और पं० व्यंकटस्वामीके मतसे विहार देशसे मिला हुआ जो बंगालका कुछ भाग है, यह पुंजदेश है और महाभारतमें भी ऐसा वर्णन है कि अंगदेशसे बंगदेशमें प्रवेश करनेके पहले भीमने पुंजदेशीय लोगोंको जीते । इसलिये अंग और बंगके बीचका देश अर्थात् विहार और बंगालके मध्यका देश ही पुंज है । २. वर्तमान मन्दसौर (मालवा) ।



समझते थे कि प्रसादको शिवजी भक्षण कर जाते हैं; परन्तु यह स्वामीजी ही सारा पा जाते थे। इस तरह तीन चार महिने स्वामीजीने अपने उदरदेवकी पूजा की। परन्तु पीछे भस्मकरोरु धीरे २ शान्त होने लगा और प्रतिदिन थोड़ा थोड़ा प्रसाद शेष रहने लगा! यह देख शिवभक्तोंको शंका उत्पन्न हुई। अनेक भक्तोंका शिवजीके प्रसादसे पालन होता था, उसमें अन्तराय आगया; इसलिये यह नवीन शिव-भक्त उन्हें शत्रु सरीखा सूझने लगा। परन्तु राजाकी आज्ञाके मारे बेचारोंका कुछ जोर नहीं चलता था। पर जब उन्होंने देखा कि, प्रसाद थोड़ा थोड़ा बचने लगा है, तब अपना बदला चुकानेका अवसर पाकर वे बहुत प्रसन्न हुए। तत्काल ही उन्होंने यह बात राजासे जाकर कह दी। जब राजाने नवीन शिवभक्तसे पूछा कि यह क्या बात है? तब उन्होंने उत्तर दिया कि, "महाशिव इतने दिन प्रसाद पाकर तृप्त हो गये हैं, इसलिये अब वे थोड़ा थोड़ा मिष्टान्न छोड़ देते हैं।" परन्तु इसमें राजाको सन्तोष नहीं हुआ। उसमें यथार्थ बात क्या है, इसका निर्णय करनेके लिये भक्तमंडलीसे कहा। भक्त तो पहलेहीसे तयार थे, इसलिये उनमेंसे विरामिने महादेवको जो विलम्ब (बेलपत्री) चढ़ाये जाने थे, उनके दरमें घुमकर छुपे छुपे स्वामीजीकी लीला देख ली। उसने तत्काल ही राजासे जाकर कह दिया कि, "महाराज! यह पागवली शिवजीको एक कणिका भी नहीं चढ़ाकर तब तक प्रसाद चढ़ाया जाता है, यह मैंने अपने भेषमें देखा है।" यह सुनकर राजा क्रुपित हुआ। उसने मन्त्रिमण्डलमें आकर स्वामीजीसे पूछा कि "तू इतने दिन तक हम

स्वामीको प्रीति क्यों देता रहा, और तब उसके सदाशिवको आगमन
 नमस्कार क्यों नहीं किया ? इसपर स्वामीने अपनी मन्मथानिकी
 भाषी कथा कह सुनाये और नमस्कार करनेके विषयमें कहा कि
 सदाशिव समद्वेष मुक्त हैं और मैं तीव्रशमका उत्तमक हूँ ! यदि
 मैंने अथकमौर्वेनिमित्त तीव्रशमदेवका स्मरण करके नमस्कार करना
 इन्हें मजन नहीं होगा ! इसीसे मैंने नमस्कार नहीं किया है । पर
 मैंने कहा "वाहे जो हो अब तुझे नमस्कार करना ही पड़ेगा।"
 शिवकीटिका इस विषयमें अनिश्चय भावसे देखाकर स्वामीने कह दिया
 "अच्छा आपका भावही है, तो मैं कुछ मन्त्रों आपके सदाशिवको
 नमस्कार करूँगा ।" यह मुनकर गंगा स्वामिममन्तभद्रको रातमें
 अंधेरी कोठरीमें कैद करनेकी आज्ञा देकर अपने महलमें चला गया

रातको गच स्वामीनीने शुद्धचित्तसे जिनेश्वरदेवका स्मरण किया
 तब त्रिनशासनी अभिकादेवीने उपस्थित होकर स्वामीकी स्तुति की
 और कहा; "सबसे आपकी इच्छानुसार सब कार्य हो जायगा । आप
 स्वयंभूस्तांत्रकी रचना करके तीर्थकरोंकी स्तुति कीजिये, इससे आप
 की सब चिन्ता दूर हो जायगी " ऐसा कहकर देवी अदृश्य हो गई
 और स्वामी शुद्धान्तःकरणसे श्रीजिनेन्द्रदेवका ध्यान करने लगे ।

सबसे होते ही राजाने उस अंधेरी कोठरीमेंसे स्वामीको निकल
 वाया, जिसमें वायुका लेश भी प्रवेश नहीं हो सकता था और उन
 सब प्रकारसे आरोग्य और प्रसन्न देखकर बड़ा अचरज मारना । वह

१. प्रभाते च समागत्य राजा कौतूहलाद्द्रुतम् ।

समस्तलोकसंदोहसंयुतेन महाधिया ॥

काराणं समुद्घात्य बहिराकारतो द्वयम् ।

आरोग्यं तं समालोक्य सन्मुखं दृष्टचेतसः ॥

नकर तो वह उनके शरणमें ही आ गया और श्रावकके त्रत लेकर जैनी
। गया । उसके साथ और भी अनेक लोगोंने जैनधर्म धारण कर लिया ।

इसके पश्चात् स्वामीने भस्मव्याधिके कारण धारण किया हुआ कुलिंग
प छोड़ दिया और प्रायश्चित्तपूर्वक अपनी असली नग्नमुद्रा धारण कर
। यह कहनेकी आवश्यकता ही नहीं है कि उपर्युक्त घटनाके समय ही
उनकी भस्मव्याधि शान्त हो गई । तदनन्तर शिवकोटि राजा स्वामि-
समन्तभद्रका शिष्य बन गया । उसने बहुत दिन स्वामीके पास
अध्ययन करके विद्या सम्पादन की और अन्तमें वह भी सारा राज-
पाट छोड़कर दिगम्बर मुनि हो गया । मुनि अवस्थामें उसने
भगवतीआराधना नामका प्रसिद्ध ग्रन्थ प्राकृत भाषामें बनाया,
जिसमें चार आराधनाओंका विस्तारपूर्वक कथन है ।

१. भगवती आराधनाकी प्रशस्तिमें यद्यपि उसके कर्ताने अपना नाम शिवार्थ
प्रगट किया है—शिवकोटि नहीं; तथापि इसमें तन्देह नहीं कि वह शिवकोटिका
ही नामान्तर है । क्योंकि जिननेन स्वामीने आदिपुराणमें भगवती आराधाना-
के कर्ताका नाम शिवकोटि ही लिखा है (देखो पर्व १ श्लोक २२) ! परन्तु
शिवार्थने ग्रन्थान्तमें अपना और कहीं समन्तभद्रस्वामीका उल्लेख नहीं किया
है और जिन जिनकान्दि गणि, सर्वगुप्तगणि, तथा आर्ध मित्रनन्दि इन तीन
गुरुओंका स्मरण किया है, जिनके कि पाम उन्होंने नूत्र और अर्थका अध्ययन
किया था । इससे कई विद्वानोंको सन्देह है कि शिवार्थ वे शिवकोटि राजा नहीं हैं
जो पहले शेष थे । यदि वे ही होते और जैसा कि कथामें कहा है समन्तभद्र-
स्वामीके शिष्य हो गये होते तो उक्त आचार्योंके साथ समन्तभद्रका भी अवश्य
स्मरण करते । इस सन्देहकी निवृत्ति करनेके लिये इतनी तो विद्वान्मकौरदायना-
टककी प्रशस्तिमें ही जाती है कि समन्तभद्रके एक शिवकोटि नामके शिष्य
अवश्य थे । क्योंकि उक्त ग्रन्थमें शिवकोटि और शिवायनको उनके शिष्य
बतलाया है । अब केवल यह बात संशोधनीय है कि उक्त शिवकोटि राजा थे
या नहीं और उस समय कोई इस नामका राजा हुआ है या नहीं ।

स्वामिसमन्तभद्रानार्यने फिर अनेक देशोंमें विहार किया, अनेक एकान्त वादियोंको परास्त करके उन्हें अनेकान्त पक्षकी महिमा दिखलाई, जहां तहां जैनधर्मकी विजयदुन्दुभी बजाई, विद्वत्तापूर्ण अनेक ग्रन्थोंकी रचना की और अन्तमें कठिन तपस्या करके एक वनमें समाधि लगाये हुए शरीर त्याग कर दिया ।

मैसूर राजमें श्रवणवेलगुल नामका जैनियोंका प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान है, जिसे लोग जैनवट्टी भी कहते हैं । वहांपर बाहुबलि या गोमठस्वामीकी एक अद्वितीय और सुविशाल प्रतिमा है । जिस पर्वत-पर यह प्रतिमा है, उसे विन्ध्यगिरि कहते हैं । विन्ध्यगिरिके एक जिनमन्दिरमें एक विशाल शिलापर “ मल्लिषेणप्रशास्ति ” नामका बड़ा भारी लेख खुदा हुआ है, जिसकी नकल ‘ प्रो० राइस ’ नामके एक अंग्रेजने अपनी इन्स्क्रिप्शन् ऐट् श्रवणवेलगोला नामकी पुस्तकमें प्रकाशित की है । उक्त लेखमें भगवान् समन्तभद्रके विषयमें निम्नालिखित परिचय मिलता है,—

वन्द्यो भस्मकभस्मसात्कृतिपटुः पद्मावतीदेवता-

दत्तोदात्तपदः स्वमन्त्रवचनव्याहृतचन्द्रप्रभः ।

आचार्य्यः स समन्तभद्रगणभृद्येनेह काले कलौ

जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद्भद्रं समन्तान्मुहुः ॥

चूर्णिका—यस्यैवं विद्यावादारम्भसंरम्भविजृम्भिताभिव्यक्तयः सूक्तयः—

पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भैरी मया ताडिता

पश्चान्मालवसिन्धुढक्कविषये काञ्चीपुरे वैदिशे ।

वादार्यो विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम् ॥

अवदुतटमटाति झटिति स्फुटचटुवाचाटधूर्जटेर्जिह्वा

वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति सति का कथाऽन्येषाम् ॥

भावार्थ—जिसने भस्मक, व्याधिको भस्म कर दी, पद्मावती देवीने उसे लंछा पद दिया, जिसने अपने मंत्रयुक्तस्तोत्रसे चन्द्रप्रभ भगवानकी मूर्ति प्रगट की और जिसके द्वारा कलिकालमें सब ओरसे लूट्याणका करनेवाला जैनमार्ग बारवार सब देशोंमें विजयशाली हुआ, वह मुनिसंघका स्वामी समन्तभद्र आचार्य वन्दनीय है ।

चू०—जिसके वादके समय प्रगट हुए सुभाषित श्लोक इस प्रकार हैं:—

“पहले मैंने पाटलीपुत्र नगर (पटना) में वादकी भेरी बजाई, फिर मालवा, सिन्धुदेश, दक्क (दक्का—बंगाल) काञ्चीपुर और वैदिश (मिल्सके आसपासका देश ?) में भेरी बजाई । और अब बड़े बड़े वेद्वान् वीरोंसे भरे हुए इस करहटाक (कराड़ जिला सतारा) नगरको प्राप्त हुआ हूँ । इस प्रकार हे राजन्, मैं वाद करनेके लिये सिंहेके समान इतस्ततः क्रीड़ा करता फिरता हूँ । ”

“ हे राजन्, जिसके आगे स्पष्ट व चतुराईसे चटपट उत्तर देनेवाले महादेवकी भी जिह्वा शीघ्र ही अटक जाती है, उस समन्तभद्र वादीके उपस्थित होते हुए तेरी सभामें और विद्वानोंकी तो कथा ही क्या है ? ”

मल्लिपेण प्रशस्ति एक ऐतिहासिक लेख है, उसमें जो वार्ता लिखी है, वह बहुत कुछ विश्वासके योग्य है । आराधनासार कथाकोशमें लिखे हुए चरित्रकी प्रधान २ बातोंका उक्त लेखमें उल्लेख मिलता है,

व्याकरण, न्याय, सिद्धान्त आदि सब ही विषयके विद्वानोंने उनकी स्तुति की है ।

स्वामी समन्तभद्रने जितने ग्रन्थोंकी रचना की है, उनमें सबसे प्रसिद्ध गन्धहस्तिमहाभाष्य है । परन्तु जैनसमाजका दुर्भाग्य है कि अब उसे उक्त ग्रन्थके दर्शन दुर्लभ हो गये हैं । दानवीर शेट माणिकचन्द्रजीने कई वर्ष पहले प्रसिद्ध किया था कि किसी भंडारमें इस ग्रन्थका पता लगे और कोई भाई हमको दर्शन करा दे, तो हम १००) पारितोषिक देंगे ! परन्तु अफसोस है कि आजतक कहीं भी इसका पता न चला । सुनते हैं, सौ वर्ष पहले जयपुरके किसी भट्टारकके भंडारमें यह ग्रन्थ मौजूद था, परन्तु अब कहां गया, कहा नहीं जा सकता । क्या आश्चर्य है, जो यह भी हमारे अन्यान्य सैकड़ों ग्रन्थोंके समान दीमक और चूहोंके उदरमें समा गया हो ! भगवान उमास्वामीके बनाए हुए तत्त्वार्थसूत्रकी सबसे बड़ी टीका यही ग्रन्थ है । इसकी श्लोकसंख्या चौरासी हजार है । यह ग्रन्थ कितने महत्त्वका और अभूतपूर्व होगा, इसका अनुमान पाठक इसी बातसे कर लेंगे कि इसके प्रारंभमें जो १४० श्लोकोंका मंगलाचरण है जिसे कि देवागमस्तोत्र या आत्मीयांसा कहते हैं, उसपर बड़े २ भारी कई टीकाग्रन्थ बन चुके हैं ।

इसकी पहली टीका अष्टशती नामकी है, जो ८०० श्लोकोंमें है और जिसके कर्त्ता वादिगजकेसरी अकलंकभट्ट हैं । दूसरी टीका अष्टसहस्री है, जिसे विद्यानंदिस्वामीने अष्टशतीके ऊपर बनाई है । एक टीका श्रीवसुनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्तिकी है, जिसे देवागमवृत्ति कहते हैं ।

